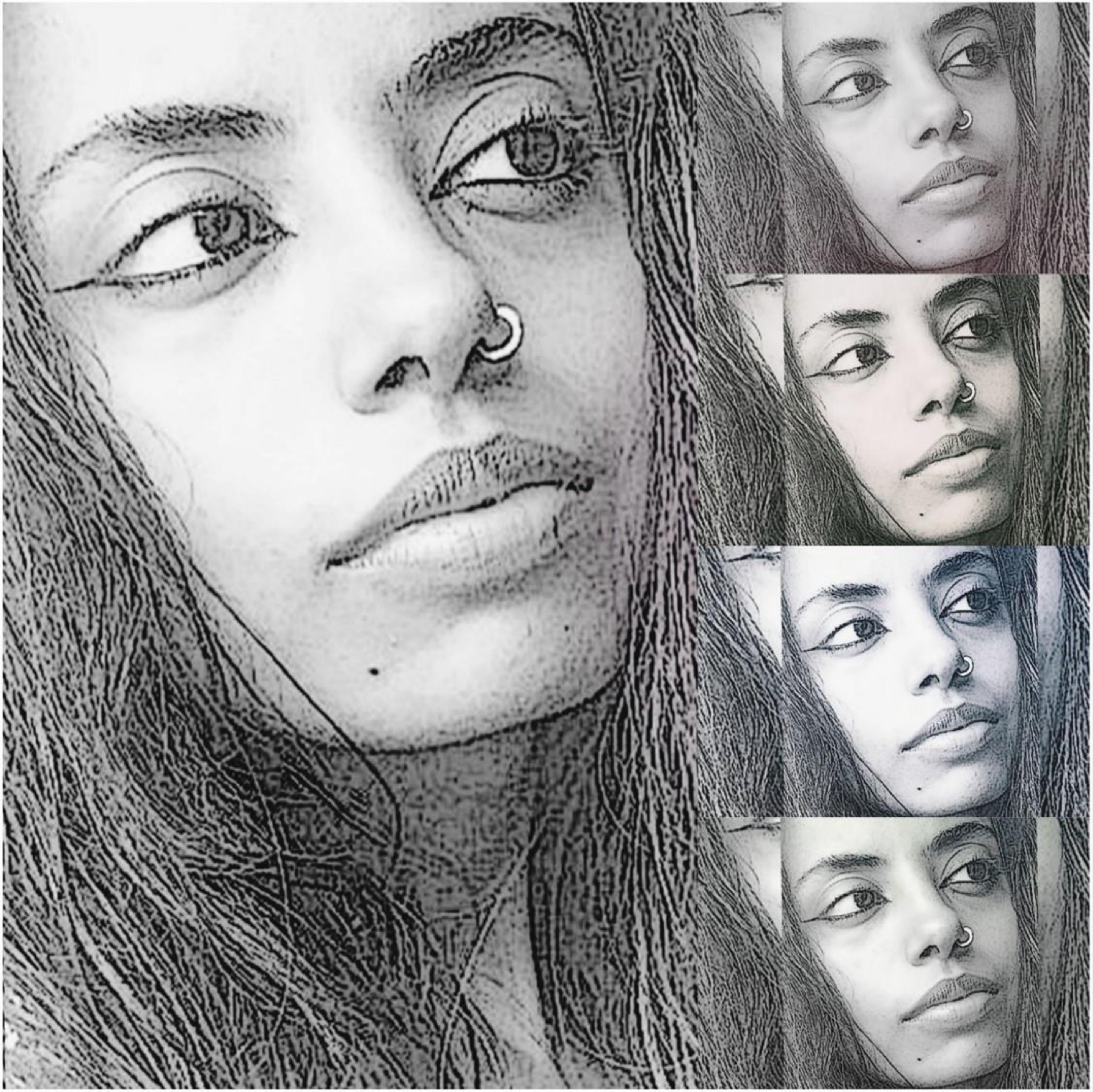


अक़्स

हाँ,
वो वही सर-ज़मीन थी,
इतनी वसी,
कि किसी की ज़ागीर ना
मिल्कियत हुई,
इतनी मुक़द्दस,
कि पामाल ही ना की जा
सकी,
और इतनी हक़ीक़ी,
कि फ़रामोश भी ना हुई।





अक़्स

बावरे मन की अनूठी परछाईयाँ

वन्दना "ईमान"





ये गुस्ताख़ इबादत भी अजब शय है,
सज्दा ख़ुदा को, पर ख़याल तेरा।

گستاخ عبادت

गुस्ताख़ इबादत

तुझसे मोहब्बत हूँ,
इस दावेदारी से कुछ आगे
निकल आया हूँ मैं।

तुझसे इश्क़ हूँ,
तभी ख़त पे लिखे लफ़्ज़ में
अर्श-सा खुल आया हूँ मैं।

तुझसे मोमिन हूँ,
कि पाकर तुझ में साहिल मेरा,
लहरों का आबिद हो आया हूँ मैं।

तुझसे काफ़िर हूँ,
सो देख,
गुस्ताख़ इबादत से नवाज़ा,
महक आया हूँ मैं...






नज़्मों की इक अनछुई सौगात इश्क़ के नाम



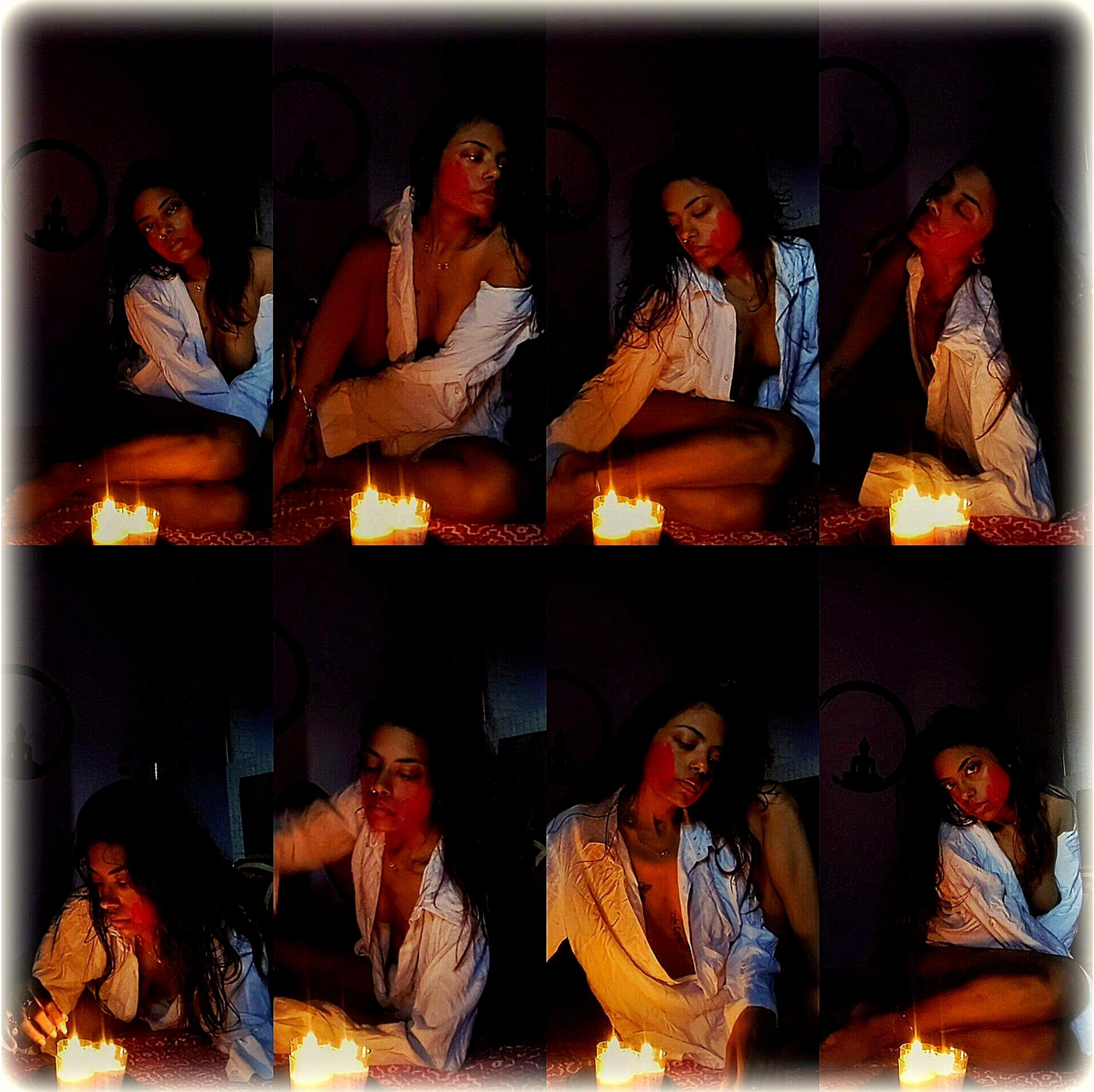

Aks



ओ साहिब, तू जीता जींद सारी हारी मैं



हम बा-हुस्न उस शब् से महक कर भी
इस गुस्ताख़ को साँसों में सँवारे हैं ...



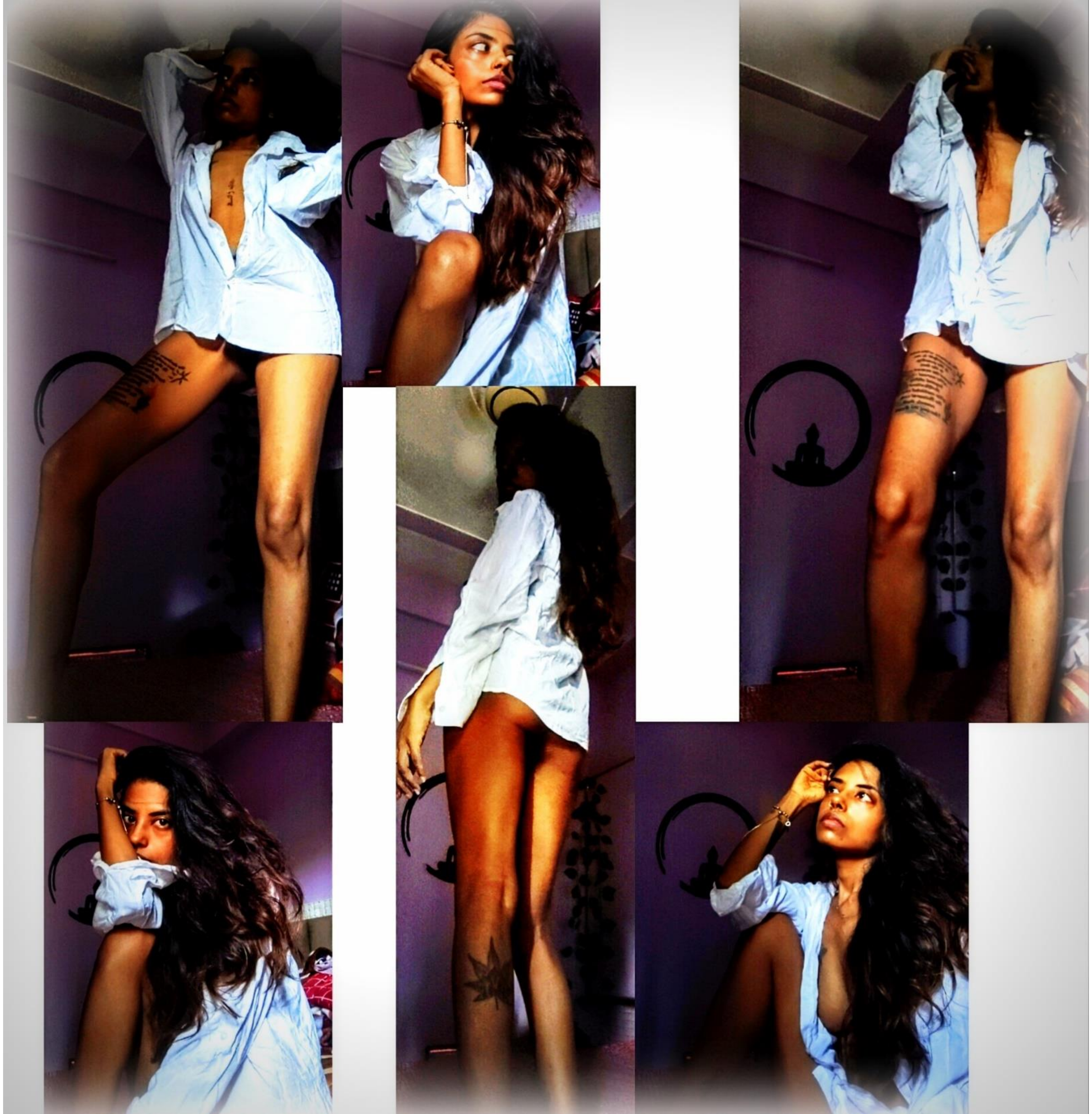
हम उस वस्ल-ए-रात में खुद बिखर के भी,
इस गुस्ताख़ को दामन से लपटे हैं।



گستاخ عبادت

फिर भी मेरा मन प्यासा ...

गुस्ताख़ इबादत



अदब शायरी
और मोहब्बत

देखिए किस हैरत-ओ-हुस्न से पोशीदा दिल-ए-राज़ है,
तीर चुभके भी खामोश, और पर्दानशीं तीरंदाज है...



सिफ़ारिश करते भी तो हम किस से,
इक तू ही तो था जिसे हक़ से कहते थे अपना।

हो बंजारे की गोया इकलौती मिल्कियत,
यूँ बड़े इंतज़ाम से सजाया था तस्लीम का पल।

बहरहाल कुदरत को जो मंज़ूर, सिर-माथे,
होगी जन्नत को तेरी हमसे ज़्यादा ज़रूरत।



सुना है लोग उसे आँख भर के देखते हैं
सो उसके शहर में कुछ दिन ठहर के देखते हैं

सुना है रब्त है उसको ख़राब हालों से
सो अपने आप को बरबाद कर के देखते हैं

सुना है दर्द की गाहक है चश्म-ए-नाज़ उसकी
सो हम भी उसकी गली से गुज़र के देखते हैं

सुना है रात उसे चाँद तकता रहता है
सितारे बाम-ए-फ़लक से उतर के देखते हैं

सुना है हश्र हैं उसकी ग़ज़ाल सी आँखें
सुना है उस को हिरन दश्त भर के देखते हैं

सुना है उसकी सियाह चश्मगी क़यामत है
सो उसको सुरमाफ़रोश आह भर के देखते हैं



सुना है उसके लबों से गुलाब जलते हैं
सो हम बहार पर इल्ज़ाम धर के देखते हैं

बस एक निगाह से लुटता है क़ाफ़िला दिल का
सो रहर्वान-ए-तमन्ना भी डर के देखते हैं

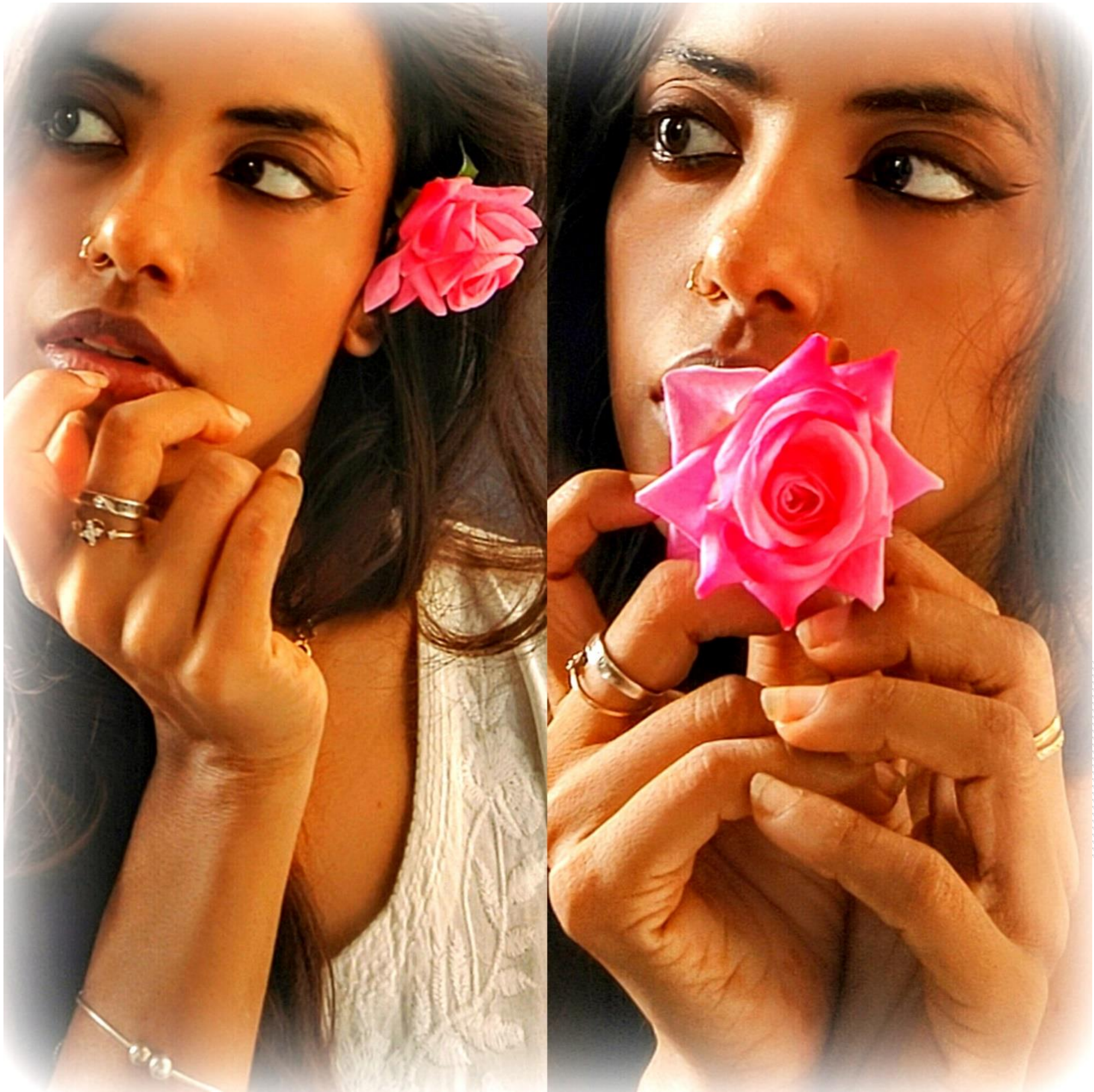
सुना है उसके शबिस्तान से मुत्तसिल है बहिश्त
मकीन उधर के भी जलवे इधर के देखते हैं

रुके तो गर्दिशें उसका तवाफ़ करती हैं
चले तो उसको ज़माने ठहर के देखते हैं

कहानियाँ हीं सही सब मुबालग़े ही सही
अगर वो ख़्वाब है ताबीर कर के देखते हैं

अब उसके शहर में ठहरें कि कूच कर जायें
फ़राज़ आओ सितारे सफ़र के देखते है

—'फ़राज़'



ख़्वाबों की नींद में कुछ ऐसे रवान होता हूँ
तेरी पलकों की कसक जाग उठी हो जैसे ...

जिस्म से रूह में समाया बयान होता हूँ
तन्हा ताबीर को देहलीज़ मिली हो जैसे ...

इक नज़र में छटक आया आलम पे असर
तेरे होठों से गुज़र धूप खिली हो जैसे ...

मुक्कदर-ए-राह में जुगनू-सा जला करता हूँ
तेरे चेहरे की झलक मुझमें बसी हो जैसे ...

वक़्त के पार यूँ मिल जाए दुआ करता हूँ
रुखे अश्कों में छुपी कल की नमी हो जैसे ...

कोई फ़रियाद तेरे दिल में दबी हो जैसे
तूने आँखों से कोई बात कही हो जैसे ...

हाँ, तू वो मुक़ाम है जहाँ आफ़ताब
ढलता नहीं,
सजदे में खुद ही झुक जाता है ...
आयत में पिरो,
पलकों पे सँवर,
नूर-ए-बदन कहलाता है ...


इश्क़
नूर
और
दास्तान-ए-तक़दीर
बयान भी थी,
राज़ भी...

ना अर्ज़ हुई,
ना रद्द।
बस होठों से
क़बूल
क़बूल
क़बूल...
रौशनी ने छू के पूछा,
तू सहर है,
या वो दुआ जो
कामिल हो चली...

जाने क्यों पूछते हैं लोग
चिराग़ का शाम से ये कैसा रब्त...
जब भी आता है तेरा नाम मेरे नाम के साथ,
शामियाना नूर से जल जाता है।

जाने क्यों पूछते हैं लोग
इश्क का इबादत से ये कैसा राब्त...
जब भी उतर आती है तू मुझ में हर शाम के बाद,
ये प्यासा, रूह तक तर जाता है।

जाने क्यों पूछते हैं लोग
अश्क का दारिया-ए-दर्द से ये कैसा राब्त...
जब भी उन निगाहों से पिघल छूते हैं मुझे
ये सर तस्लीम में झुका जाता है।


वहदत-उल-वजूद
गुस्ताख़
इबादत

गुस्ताख़

वाक़िआत-ए-नफ़्स-उल-अम्री
क्या बयान करें ऐ दिल,
आज तो उनके
इनाम-ए-तग़ाफ़ुल की पेशी है।
यहाँ हुआ फ़ैसला मुक़र्रर,
वहाँ कटघरे में जकड़ा
मुजरिम-ए-पुख़्ता-कार चित...
ख़ुदारा,
हम नज़र से क़लम होकर भी,
इस गुस्ताख़ को
अश्कों में समेटे हैं।



ख़ानाबदोश

वहाँ,
लहरों की सरगोशी में पिरो,
सौंप आई हूं मेरे
कुछ अमानती अल्फ़ाज़,
कि जो हवाएं पलट के लौटें
इन वादियों की चुप्पी में,
तो इस दफ़ा बाहों में उठा,
उन्हें भी बादलों साथ ले उड़ें...

उन पहाड़ों की पेशानी पे
हल्की-हल्की धूप की चुंबन भी
ठहरा आई हूं –
कि लगे,

ख़ानाबदोश

किसी ने साँस-भर
फिर किसी को याद किया...

और आख़िरी कदम,
साहिल पे खड़ी ख़ानाबदोश मैं,
पलकों के साये,
अपना ही नाम धीरे से दोहरा
छोड़ चली –
कि यक़ीन दिला सकूँ कायनात को
उगते आफ़ताब की हर पहली किरण,
क़ुर्बान हो ये ग़ुस्ताख़ इबादत, मौला,
क़ुबूल हुई झील के सितारों संग ...

***

ख़ानाबदोश

उस वादी-ए-सुकूत में लहराती,
सिमट आई है आज
फ़ज्र की अज़ान,
कि इलाही फ़ैसलों को चीर
ये सफ़र-ए-अक़ीदत
इस लम्हा, इस दर
पार हुआ।

मौसम-ए-ख़िज़ाँ का भी
रुख़सार-ए-हज पे छाया
वो मुल्तवी
ज़र-ए-हुस्न,
कि दामन-ए-कोह

ख़ानाबदोश

आसमान से लिपट,
रेशा-रेशा, पाक हुआ।
ये नज़र, आहिस्ता,
इस सर-ज़मीन से गुज़र,
उफ़ुक़ पे थमी जो अब,
पिघलते अश्क़ में
इबादत का ग़ुस्ताख़ नूर,
तेरी करम-ए-रज़ा से
आबाद हुआ...



नूर-फ़िरदौस

नूर ने फिर कजरारी आँखों में उतर,
पूछा फ़िरदौस से,
क्या अब भी कोई जगह ख़ाली है?
क्यूँ ढूँढ रही हो मिल के भी,
मैं तो फ़लक से छलका ही
तुम्हारे लिए...

फ़िरदौस पहले तो टक-टकी बाँधे
देखती रही,
फिर अचानक बोल पड़ी --
ये बेसब्र आह रास्ता रोके खड़ी है,
कुछ और क़रीब आओ,
साँसों में भर जाओ,



नूर-फ़िरदौस

कि बहारों के आँचल में ढलती
वो नामुकम्मल शाम
अभी बाकी है ...

***

नूर ने एक बार फिर, नज़र उठा,
फ़िरदौस से पूछा,
अब तो साँसों में घुल गया,
तुम-सा हो गया,
बताओ, क्या अब भी कोई जगह ख़ाली है?
देखो, कैसा सुरख़ाब-सा सजाया है
ये हुस्न तुम्हारा ...



नूर-फ़िरदौस

फ़िरदौस मुस्कुरायी,
और सीने पे दमकती धूप को
हथेली में समाये, अदा से बोली,
अभी तो उस एक शाम का सिला चुकाए हो, हज़ूर,
उम्र पड़ी है हिसाब को ...

***

नूर ने इस दफ़ा निगाह न उठाई,
आहिस्ता से चूम, दबे होंठ,
ख़ामोशी में रिसता,
बस पिघलता गया वो जिस्म पर...
फ़िरदौस भी, वक़्त बाँधे,
उफनते दरिया-ए-हिज्र के पार,



नूर-फ़िरदौस

धुंध-सी घुलती गई...

***

फिर वही सुरमई दास्तान-ए-शफ़क़-ओ-संग
हैदरी फ़िज़ा में गूंज उठी --
सुकून-ए-कोहसार,
नेक फ़तेह के बुलंद परचम-सा,
वादी में लहराने लगा।



रंग-रसिया

रंगों से परे,
तेरे ज़िक्र में भीगा,
ये क़लम-ए-मुसव्विर, खुदाया,
इख़्लास से जो उठा,
शायरी तस्वीर से निकल,
वादियों में बिखर गई।
वह कहते हैं –
इबादत-ए-हुस्न गुनाह भी है,
सवाब भी,
सो चलें आज़माएँ,
ये ज़ालिम तीर-ए-निगाह सिर्फ
तौफ़ीक़ ही,
या मेरी तक़दीर भी।





लाल रंग

उफ़ ये लाल रंग --
इसे मेहरम के लबों की
बेचैनी कहूँ,
या गुलाब की शोख़-ओ-नज़ाकत,
उस सिंदूरी शब की अता
मेहरबानी कहूँ,
या खून-ए-जिगर में उतरती जुस्तजु...

जो सरपरस्ती में नज़र
झुक के उठी,
और हवाएँ ठिठुर के
दामन से लगीं,
मेरा रोम-रोम, ज़र्द पत्तों-सा सुलग,
फिर ज़िंदा हो चला...



वो ज़ह-ए-नसीब मेरी ...

ज़ुल्फ़ों के रेशमी साए में बड़ी नज़ाकत से सिमट,
वो ग़ुस्ताख़ सहर भी ढल गई थी वहीं ...
ये रात उभरी है अब तो कुछ यादें लौट आईं,
ना खुले ख़त में बसी तेरी ख़ुशबू की तरह।

सोचा ज़रा ठहर के पढ़ लूँ दो-चार बातें तेरी,
पर ये कम्भख्त आँख,
बिन इजाज़त, भर आई है मेरी ...
कहने को चंद साज़ों से पिरोई अधूरी सरगम ही थी,
फिर भी नाज़ुक डोर ने सँभाला समंदर कहीं...

कुन ... फ़-यकून

कभी गुज़ारा था इक
अनकहा मरासिम
तेरी अधूरी दुआ ने मेरी ढलती
शाम संग...
शिकारा के बहाने,
बैंगनी आसमान के शहर।
आज वो लम्हा,
ख़िज़्र ओढ़,
जो उसी मोड़ लौट आया,
निगाहों में दामन-ए-कोह का
ठहराव तैर उठा,
मानो वक़्त दहलीज़ पे खड़ा,
छूने से पहले
इजाज़त माँग रहा हो...

कुन ... फ़-यकून

ये जिस्म
दरियाओं की दबी याद-सा पिघल
साँसें लेने लगा –
चिनार के सब्र की मुक़र्रर आख़िरी हद
भी पार हुई।
वादी की बेचैन ख़ामोशी,
अपनी उम्र-ए-दराज़-ए-तड़प को तोड़,
इस मर्तबा पूछ ही बैठी मुझसे,
ये सब कैसे हुआ?
लब बिन खुले सब कह गए...
इश्क़ की हुकूमत
जमे अश्कों के सलाम में क़ायम थी।
फ़रमान जारी हुआ,
और कायनात ख़ुद-ब-ख़ुद
अक्स में उतर आई ...
कुन ... फ़-यकून।

फ़िरोज़ी

सुबह घुल के रस में तेरे,
आसमान-सी फ़िरोज़ी हुई
मुझसे आज पूछती है –
क्यों आँखों में वक़्त ठहरा है,
क्यों ज़ुल्फ़ गिरहों में
रात संभाले है?

ख़ुदाया,
रुख़सार पे खिली ये रौनक
सिर्फ़ मेरे आने से है,
या रंग भी देख तुझे अब
इबादत करने लगे...

निगाह-ए-मेहर

जो निगाह-ए-मेहर तेरी
मुझपे थमी,
मह्व-ए-ख़्वाब-ए-नाज़ मैं रूह तक
तर गया,
अब दर अल-सलाम पे
क्या झुकूँ,
वो ख़ुदा बैठ खुद मुझसे
तेरी बातें करता है...

ताल्लुक़-ए-हसीन

दो ख्वाब मेरे तुम
हक़-संग रख लो,
एक ख्वाब चुरा तुम्हारा
मैं जी लूँ।

फिर जो रात थकन में
डाले डेरा कहीं,
तुम पलकों पे सजा लेना
मेरा एहसास-ए-जुर्म...

और जो पूछे कोई
क्या है ये
ताल्लुक़-ए-हसीन,
सरफ़राज़ कर दिखा देना
टुकड़ा-ए-दिल नगीन...

फिरदौस और नूर

खड़ी थी यूँ हिज्र की इब्तिदा पे
कि हवा भी रुक के देखने लगी।
उसके वजूद में अब
सर्द आहों का शोर न था,
बस फितूर बसता था
गूंगी खाई-सा...
दिन, महीने, साल,
कभी सुलझा,
कभी धुंआ, धुंआ
और इक एहसास --
वो फिरदौस जो कहीं न था,
वो जो हर कहीं था।

दस्तक

बिलाख़िर, आज तुझमें उतर
साँसों से गुज़रूँ,
बस जाऊँ ...
परिंदों-सा काफ़िर मैं --
रिहाइश को तलाशता
हर फिसलता लम्हा मेरा
आ रुका है यहीं ...
सो नवाज़ मुझे कुछ देर
यूँ नज़रें झुकाए,
और अगली हरकत में, धीमे से उठाए,
कि ये अंदाज़-ए-नादान तेरा
बुझे मन को
सेहरे-सा खिलाए।

दस्तक

बेठिकाना,
भटका हूँ मुद्दतों
वीरानियों की बेमक़सद
भीड़ में,
अब कर दे मयस्सर
लबरेज़ ज़ख्मों को पनाह
इस दर-ए-रहमत --
थक गया मैं।
दे इजाज़त —
ठहरी हमनवाई कर रही
दरवाज़े पर दस्तक।

सियाह चश्म

सियाह चश्म वो,
मेरी रातों में धीमे-धीमे
मुस्तक़िल्लन
उन अंगारों की राख फूँकती रही,
और मैं –
उस 'आलम-ए-दूद-सा लमहाती,
उसके हज़ूर में
आख़िरी चिराग़ जला चला...

हीर और नज़र

ये मेरे बेज़ुबान एहसासात
उसकी नर्म गलियों में
अब भी गूंज रहे हैं,
जाड़ों की मख़मली
धूप की तरह,
लिए छलकते,
सुनहरे रंगों का सवाब,
इक कजरारे लम्हे की
अर्ज़ी छुपाए,
पलकों पे
थमने को बेताब ...
क्यूँ उलझूँ फिर,
क्यूँ पूछूँ
गुज़रती घड़ियों से

हीर और नज़र

इश्क़ के फ़लसफ़े
का हिसाब ...

वक़्त-से बहते गेसुओं ने
जो इस पल रोका मुझे,
तो दिल की लाल गिरहों में
महफ़ूज़ बाँध लिया उसे,
ज़माने की ज़र्द सौदे-बाज़ी
से बचा --
वो जो मिली है आज,
इनायत-सी,
सुलगती,
अचानक,
क़ुब्बा-ए-दरगाह पे
आँधी-सी फिसलती,

हीर और नज़र

बिन रुके,
सज्दे में बिन झुके --

अब न चाहत है
जन्नत-ए-ख़ास की,
न आरज़ू अधूरी कोई।
बस हीर रहे पोशीदा
नज़र में,
और ये नज़र करे जी-हज़ूरी ...

ख़ुद-मुख़्तार

वो क़द,
जिसे सियाह-ओ-गहरे पहाड़ों ने
अज़ल से तराशा,
वो जिस्म,
जिसमें झुलसते, ठिठुरते संगों की
अंजुमन बसी,
वो रेश-ए-रूह,
जहाँ रवानी-ए-दरिया तहों तले
पोशीदा है,
वहाँ, उसकी शहंशाही, सुर्ख़ निगाह

ख़ुद-मुख़्तार

रोब-ओ-दाब की मसनद पे बैठी,
कहती है –
देख,
इन बर्फ़ीली हवाओं के
सफ़ेद अर्श पे सवार,
ये मुख़्तार, अज़ीम बुलंदियाँ
आज यों, शर्फ़-ओ-शान, हासिल हुईं...

सफ़ेद इश्क़

आज भी तुझे देख मैं
यही सोचता हूँ,
तू सफ़ेद इश्क़ है मेरा,
या किसी सवाब का सिला ...

क्या हज़ारों मेहरबानियाँ
घुल गई थीं
एक प्यास-ए-रूह में मेरी,
या उस रात बर्फ़ पिघल
बंद दरीचों में
उतर आई थी ...

सफ़ेद इश्क़

सुकून-ओ-शफ़क़त से लबालब
क्या ये वादी मेरी,
गिली मिट्टी की महक से तेरी
फ़िर आबाद हो चली,
या ज़र्द पत्तों से उठ चिनार,
सदियों बाद, तेरा हुस्न लिये
मयस्सर हुआ ...

तू ही बता,
किस पिछले क़र्ज़-ए-लिख़ावट का
अदना अदा-कर हूँ मैं,
कि तू बेरंग ज़िंदगी में मेरी,
बिन इजाज़त, बिन दस्तक,
आहिस्ता से यूँ आ रुकी ...

आग़ोश

कुछ लम्हात ठहरी झील की
नीली, गहरी साँस से भी
हल्के होते हैं —
जो रोक लो
तो नज़ाकत से सता,
यूँ ही बेज़ार,
बे-क़रार गुज़र जाते हैं,
और जो जी लो
तो ख़ामोश रातों से लिपट,
नर्म आग़ोश में
उतर आते हैं ...

अनकही

होंठ कुछ कहना चाहते थे,
मगर निगाहों ने रोक लिया,
कि जो बयान हुआ
तो ज़ाया न हो जाए —
कुछ बातें मेरी-तुम्हारीअनकही ही रहें...
देखो, चाँदनी ज़मीन को छू
और निखर आई है,
अब अल्फ़ाज़ों के दायरे
ग़ैर-मुतालिक हुए...
भले ये बेमुरव्वत वक़्त
तुम-मैं के फ़ासलों को लांघ न पाया,
रोशनी फिर भी हमारी ही हुई।

तफ़्सीर-ए-इश्क़

तू मोगरे-से सफ़ेद इश्क़ की ताबीर क्या हुआ,
मैं नूर को नैनों के आइने में उतार चली ...
सो अब तफ़्सीर पढ़ूं, क्यूं सफहे पलटूं,
जब इस उजले ख्वाब की हुआ तू
सर-ए-ज़मीन।

***

किसी अफ़साने-सी लरज़ती है
इन होठों के क़रीब,
रूयत है कोई, शायद आयत, नज़दीक़।
तेरी खुशबू से आज भी
महक जाता हूँ मैं,
तू काज़ल में उठे,
या पाक़ीज़ा सांसों में, मेरे हसीन।

'अहद-ओ-पैमान

तुझे अल्फ़ाज़ों की बंदिश में
सिमटने का आज मौका न देंगें,
कि इरादा मज़बूत कर मुखातिब हैं
'अहद-ओ-पैमान का।
सो निगाह से ही सही पर बयान कर,
ये दयार-ए-इश्क़ है,
तेरा इक इशारा भी हमें है अज़ीज़।
सर-ए-गाह जो मयस्सर हो,
इन लबों को छूने की नाज़ुकी से ही दोहरा होने दे,
इंशाल्लाह,
मरकज-ए-तवज्जोह भी होगी जल्द नसीब।
अब और सज़ा न दे,
तेरा अब्र-सा सफ़ेद दामन बेचैन है,
छुपा ले हमें,
इस से ज़्यादा पाने की ख्वाहिश भी नहीं।

वो ख़ुद एक नज़्म है

वो ख़ुद एक नज़्म है,
कभी हरकत, तो कभी ठहराव में...

उसके हाथों की जंबिश
गुज़रता वक़्त रोक दे,
अल्फ़ाज़, धूप।

नज़र उठे तो हवा तमीज़ सीख ले,
झुके, कि मंज़र घटा चूम ले...

फिसलते लम्हे
ख़ुद-ब-ख़ुद तरतीब में आ जाएँ,
और ख़ामोशी दुआ में पिघल आए।

वो ख़ुद एक नज़्म है

रुकती, बहती, महकती,
आसमानों की अधूरी ग़ज़ल,
मेरी साँसों में घुल गई,
वो जो ख़ुद एक नज़्म है ...

बेपयाँ सफर ही, अरमान ही,
और मैं?
इक गुस्ताख़-सा क़रीब ख्वाब ...

रश्क-ए-नज़र

शफ़क़ से टूट
यूँ बिखर आई थी वो
मेरी ख़्वाबगाह में,
कि सर-ए-शाम
नूर की हसरत लिया मैं काफ़िर,
उसका मुरीद-ए-ख़ास हुआ।

रश्क-ए-नज़र,
क़तरा-क़तरा पिघल
जो वजुद में
उतरी है अब,
तो ज़मीन है लाल,
आसमान है लाल,
परवाज़-ए-इश्क़ बुलंद,
और फकीरा निहाल हुआ...

गुलाब

गुलाब हूँ
काँटों की तर्बियत में खिली
ख़िज़ाँ के मौसम संग
दास्तान-ए-दर्द-ए-उल्फ़त लिखी ...

रक़्स करते हैं ज़ख़्म,
फिर भी महकता
गुलज़ार मेरा,
पोशिदा है दिल-ए-राज़ वहीं,
बिस्मिल्लाह,
जहाँ इक़रार तेरा।

फ़लक-ए-बदन

इक दिन आसमान पहन लिया,
उस बेपनाह एहसास को
छूने के लिए...
फलक भी बाहें पसारे बदन में
सिमट के बोला,
मुझे कब से तेरा ही इंतज़ार था...
और फिर उतर आया वो
रगों में मेरे,
कि जिस्म में बसी
पिछली गुज़ारिश बकाया थी
चंद बूंदों की।

इ'तिराफ़-ए-गुल

ना आतिश रही,
ना तिश्नगी,
तेरा साया,
जो साथ था, क़रीब था,
सीने में छुपी टीस था,
कायनात से अता नसीब था,
आज हयात-ए-तसव्वुर का
मुजस्सम सरमाया हो गया...

तुझे देख यूँ,
मैं भी खिलता चला,
हाथों में,
बनके बेनाम दुआ...
इक अधूरा लम्हा,
...

इ'तिराफ़-ए-गुल

जिसे चूम, सर-आँखों,
तूने कर दिया ख़ुदा ...

रोज़-ए-हश्र,
सवाब में तुझे पाऊँ —
यही रखता हूँ दीन
इब्तिदा से...
सर-ए-राह,
क़दम ब क़दम,
दहलीज़-ए-रब्बानी —
फिर क्यूँ तलाशूं ...
तूझ संग हस्ती पिघली,
और ये आबिद
इबादत में घुल गया।

रंग-ए-मैहर

कुछ पहचानता हूँ तुझे
तेरी खुशबू से...
कुछ नाज़ुकियों की बेपरवाह
बँधी डोर से।
एक धागा खींचूँ तो
धूप और क़रीब आ जाती है,
एक साँस भरूँ
तो रूह भीग... केसरीया।

इश्क़-ए-मजाज़ी

बूंद-बूंद अफ़लाक़ पे रिसती,
जो तारी हुई तेरी गुफ़्तगू,
क्या नहीं मुमकिन
कि मेरा चाक-ए-दामन भी
हो जाए रफ़ू?

यूँ तो ज़ख़्मों का
होता है अपना ही
अंदाज़-ए-बयां,
सुभानअल्लाह!
फिर भी रुबाब और है
उस नज़र का
जो चीर दे आसमां।

इश्क़-ए-मजाज़ी

हो इलाही पैग़ाम से मुकम्मल
इन लबों से गुज़रता
हर बेलफ़्ज़ पेहरा,
बोल --
क्या नहीं क़ुबूल
इस क़ल्ब-ए-मोमिन का ये
तार-तार सेहरा ...

इश्क़-ए-मजाज़ी बनाम इश्क़-ए-हक़ीक़ी

आबाद

कौन कहता है
हमें आबाद कर,
तेग़-ए-निगाह से
बर्बाद करके देख।

लबों पे
उफ़ तक ना लाएंगे,
तबीयत को नासाज़ करके देख।

तेरा ख़याल करते हैं
उस चाँद से पहले,
वो जागता सारी रात,
तू जगा करके देख।

आबाद

साँसों से वाबस्ता है ये
अनकहा इज़हार-ए-इश्क़,
इसे पलकों में छुपा,
हौसला फिर बुलंद करके देख।

पाकीज़ा ख़्वाबों का हवाला दें,
या जलाती तपिश-ए-रूह का,
आंसुओं की नमी बरसा
तमामकरके देख।

क़ाबिल हैं या राख से ख़ाक होंगे,
नुमाइश क्या,
तू सौ दफ़ा आज़मा करके देख।

आबाद

वो होगी वक़्ती शय
या लफ़्ज़ी दावा-ए-दारी,
हम नहीं, हम नहीं,
जो हुक्म हो तो बग़ावत-ए-मुक़द्दर
सर करके देख।

रहनुमा

पिछले सवालों की उस गहरी, अहमरी मिट्टी को
भले न कुरेद,
पर इतना तो बता साहिब,
तेरी जानिब आते सौगात में क्या लाऊँ ...
कहे तो कुछ और देर तुझे छेड़ूँ, तड़पाऊँ,
मुस्कुराऊँ,
या कहे तो इस कल्ब में चुनवा तुझे
मक़बूल हो जाऊँ ...
सूनी राहों से ग़ुज़रते-गुज़रते
इक मुद्दत बीती तुझे,
ठहर ज़रा,
थोड़ी सांस आने दे इस बेज़ार सीने में।
आसरा न सही,
रहनुमाई का इरादा ही नेक कर,
तुझे जीने को अभी इक और उम्र नाम रखी।

गुल-ए-सुर्ख

वो गुल-ए-सुर्ख कुछ
यूँ घटाओं में सजाए थे,
कि आशिक़ गुलाब भी निगाहों में
हया खिला चला।
फिर इस अदना शायर की क्या औक़ात
कि हम दो ख़्वाब पालें,
इक झलक दीदार ही मिल जाए उनका,
ये ज़िंदगी
ख़्वाहिशों के दामन में
गुज़ार लेंगे....

मुसव्विर

तू पूछता है क्या तस्वीर खींचूं
उन तन्वीम-आवार स्याह निगाहों की
जो रूह में सुराख कर
खुद नक़ाब-पोश हो जाएं,
बेपर्दा कर दिल-ए-आरज़ू सारी,
सुरमेदानी की तौक पे उठाई हैं
जो हल्फ़-बरदारी ...
मुसव्विर, ज़ख्म एक सजे या अनेक
उनके राह-ए-इस्तकबाल,
तू ख़त्त की लिखाई में छुपी
हया को चुरा एलान कर,
अब चाहे ये इश्क़ मलहम लगे
या चुभती सुई की नोक,
आगाज़ हो,
कि यहां तो बहुत काम रफ़ू का निकला।

पनाह-गार

किनार-ए-बेचैनी अज़ीयतों का ये कैसा
घायल सैलाब खोज लाए, साहिब,
ना तुम्हें मुकाम हासिल हुआ,
ना मंजिल की कोई खैर-खबर ...
बख़्श दो ...
इस बरसते हिज्र को अब
कितना आज़माओगे?
इधर देखो, नूर का ठिकाना
तुम्हारी निगाहों के पनाह-गार में सिमटने
कब से गुज़ारिश-मंद खड़ा है।
आलम आबादी का रुख किए है,
आगे बढ़ो, और जिस्म-ओ-जान कर लो!

इश्क़ मोहसिन

इक उलझी रात में डूबी उसकी उलझी बात --

अब चाँद वहाँ तब आता है जब
इज़हार ज़मीन पे खिलता है ...
उस तन्हा तारे की हसरती नज़र में
इक़रार का हुस्न पिघलता है ...

रगों में दौड़ता, सिमटता,
आग़ाज़ी पहल का नज़राना इश्क़ मोहसिन,
इस शब के संभाले जो संभला न,
उस सलामी का मुज़ाहिरा इश्क़ मोहसिन!

नूर-ए-इबादत

गहराइयों की समाई से निकल
ज़मीन पे पिघल वो जो
निखरती है,
मिट्टी की है ना आसमान की।
अपने ही सजीले रंगों में रंगी,
'आलम-ए-मिसाल, ओ साहिब,
देख मुक़म्मल सितारा –
नूर-ए-इबादत।
खुद को खुद से मिला दे,
ऐसी सुर्ख रोमांयियत से भरे वो लब,
दोचेहरा नक़ाबपोशी,
झुर्राई रिवायतों,
ऊँचे चोबारे के आलीशान क़ायदों
की जकड़ से परे।

नूर-ए-इबादत

उठे नज़र, तो रूह तराश दे,
कुछ ऐसा हुनर छुपाए चमकती पेशानी उसकी!
कि देखने वाला देख के भी छू न पाए,
और घायलों की लंबी फ़ेहरिस्त बढ़ती चली ...
एक राज़,
एक सुकून,
एक जहान,
वो ग़ैर-मुतवक्का ख़्वाब जो रातों को जगाए,
एक बेनज़ीर सेहर
जो खुद में शुरू, खुद में सिमट जाए।
ना पूरी मादी, ना ही फ़रिश्ता,
ख़ुदा से बनी, उस ख़ुदा पे सजी।

ख़िज़ाँ की सुर्ख़ अमानत

वो मेरी झुकी नज़रों में बसी
पहली ख़िज़ाँ की सुर्ख़ अमानत थी,
चिनार के चंद ज़र्द पत्तों को जैसे
शीशे में ढाल
वक़्त रोक देने की साज़िश...
आहट से जो पहचान जाता,
तो अपनी ख़ुशबू में घोल देती,
और ज़रा होंठों के थोड़ा नज़दीक आता,
तो अपने तीखे काले तिल से
टोक देती।
सुना था,
ढलती शाम का इस्तक़बाल
सुनहरी डोरियों में
गाँठें लगा के करती --

ख़िज़ाँ की सुर्ख़ अमानत

जो सहर आए उम्मीदों की डोली लिए
तो वादी दुल्हन सी लगे।

शायद कोई खोई सदा ही थी वो,
ख़ुश्क पत्थरों के सर्द दिलों में
नर्म बसेरा सजाए...
बर्फ़ पिघली,
बहार फिर लौट आई इस दूसरे साल --
इंतज़ार मगर उसका
अब तक ठहरा था
मेरी पलकों के पार।

निगाह-ए-शौक़

वो शाम की मंद लौ में कुछ
इस क़दर उलझी थी,
गोया शफ़क़ भी ज़मीन पे बिखरने को
राह देखती रही —
कि जो रुख़ हो उसकी निगाह-ए-शौक़ का
उस तरफ़,
तो फ़लक से ढलकता शम्स भी
दो पल ठहर के डूबे।
कहते हैं,
हर रोज़ ऐसा सब्र
उसे भी नसीब नहीं होता।

इश्क़ और खुदा

ऐ दिल अब क्या मुज़ाहिरा दें इस कैफ़ियत का
तुझको,
जहाँ लफ़्ज़ों का हेर-फ़ेर नहीं,
ना ही तबियत की दरयाफ़्त मुमकिन ...
एक अफ़सानी जुस्तज़ू ने करवट ली है
इस हसीन शाम,
अब उनके बिन हमारा गुज़रा नहीं।
इत्तिफ़ाक़न सही पर आहिस्ता-आहिस्ता
हमराज़ बन गए वो,
तुझ से क्या कहूँ, इस मासूम क़त्ल-ए-ख़ास का था
बेहतर बहाना नहीं ...
अह्द-ओ-पैमान से कुछ आगे बढ़ गया है
नज़रों का सिलसिलाई लेन-देन,

इश्क़ और खुदा

इस इलाही, तरतीबी मेल में अब दुनियावी,
दिखावटी शरीक़त नहीं!
हुकूमत-ए-आली ने फ़क्र से भेजी है साक़िब संग
सफ़ेद सौग़ात,
इबादत ठुकराना इन उठे हाथों की
फ़ितरत नहीं।
काफ़िलों से हट कर राह-ए-ज़िंदगी ने सजाई है
शख़्सियत उनकी,
पुर-सुकून, पुर-ए'जाज़-ओ-गर्म,
है ख़ुशी का मेरे अब ठिकाना नहीं!
कि ख़्वाब भी वो,
नींद भी,
ताबीर भी,

इश्क़ और खुदा

ज़माना न देख ले आँख भर उनको,
वो काला तिल, नसीबन, तस्लीम भी, तावीज़ भी ...

***

क़ामयाबी आई है दर बन रात मुरादों वाली,
उन्हें शरीक-ए-हयात कहूँ अब, या जान-ए-जहान,
हर नाम में उनके अब हूँ मैं कहीं ...

ना होता कैसे इश्क़ लाज़िम जब ख़ुदा था राज़ी!

कुर्बत

तेरी कुर्बत में दष्त-ए-फिराक़ भी
सराब लगे।
कि मघरिब पे खिलती चाँदनी भी
उफ़क़ में नूर का सैलाब लगे!
साँस की आँच पे सेका हर लफ़्ज़ क़तरा-क़तरा पिघल
पूछता है मुझसे,
इजाज़त हो तो शबनम बन तेरे
रुख़्सार सजे!

वो मिलने को आयी

तू आदत से मोहब्बत
और मोहब्बत से आयत कब बन चली,
इस तफतीश में उम्र गुज़रे ना गुज़रे,
ये लम्हा ना गुज़र जाये ...
कुछ मोहलत मांग ली है मैंने,
उसकी रज़ा में अपनी रज़ा को मिलाने को,
तेरे ज़िक्र में मेरे ज़िक्र को समाने को ...
शायद मेहरबान हो ही जाये तामीर-ए-काइनात,
और नवाज़ दे मुझे शायन-ए-शान!
मुस्तक़बिल में जो लिखा भले उसके इख़्तियार,
पर, ऐ वक़्त, ठहर जा बस दो पल को,
वो मिलने को आयी ...

इन्क़िशाफ़

तेरी सलामती की लौटी ख़बर से महक चली
नज़र में लरज़ती उम्मीद-ए-तसव्वुर भी,
बेसुकूनी में डूबी ख़ामोश,
स्याह क़यामगाह भी।
इन्तहान इंतज़ार के सुलगते-बुझते
अंगारों की आगोश से मचल
तड़प उठी है इन्क़िशाफ़ को –
इस निस्बत के वक़्ती फ़ासलों को
छिपती-छिपाती परछाइयों में तलाश,
वो पर्दानशी लौ-ए-हुस्न अब रात के इस पहर
तेरे लबों पे इख़्तियारी शिफ़ाई सुर्ख़ी से ख़्वार होगी,
या इस शोख़ नूर-अन्दाज़ी का तेरा ये गैर-मामूली,
आज़माईशी मुतालबा
उन शिकस्ता पलक़ों को टटोलता-परखता
कुछ और देर तरसाएगा ...

मरासिम

जो सोचा तूने कि इक दिन यूहीं बिन बताए,
रूठ, चला जाएगा,
शहर बदल लेगा, और राहें अलहेदा,
तो शायद पढ़ा नहीं कुछ ठीक इन आँखों को,
यहाँ सिर्फ़ वफ़ाओं का बसेरा नहीं,
मरासिम भी है इश्क़ का –
तेरे न होने में भी तू है,
और जो हो, तो परस्तिश का सवेरा...

इन दीवारों-दर को ऐसी आदत हो चली है तेरी,
हलकी-सी भी नाराज़गी अब रास नहीं!
बेतक़ल्लुफ़ी जँचे है तेरी टेढ़ी भौंहों को,

मरासिम

और मुस्कुराहट, उफ़ ...
इस मुस्कुराहट का एक वाहिद क़ातिलाना घाव,
तौबा मैं जाऊं वारी-वारी वहीं ...

सो जाँच ले मिर्ज़ा,
सौ फ़ीसद ख़ालिस, नादान, नासमझ मोहब्बत तय,
या गुमनाम गलियों की रेज़ा-रेज़ा ख़ाक कुबूल?
हस्ती का सामान तलब,
या गिरफ्तारी नज़र-भर चूम ...
ना इसरार चले, ना हक़ की दावेदारी,
जो चुन ले, तुझ पर हर कुर्बानी मंज़ूर!

मुख्तार

इब्तिदा के दिन लिख गया था तू नसीब में,
अब हिजरत-इलल-हक़ भी रूह को
कमतर लगे।
मवराई इबादत है ये परीज़ाद इश्क़,
ना खौफ़ इसे दुनियावी तौक़-ओ-सलासिल का!
तू मुख्तार है, नाम कर दे एक और सितम,
तेरे शान-ए-तगाफुल की नख़रेबाज़ी भी
अज़ीज़ लगे।

कब किए हैं सरहदी फैसले इलाही परिंदे ने
हस्ब-ए-दस्तूर?
फिर क्यों न जफ़ाएँ मुसल्लत हो जो ख्वाब
परवान चढ़े?

मुख्तार

क्यों न ज़र्द पत्तों से उठ चिनार
आग़ाज़ी सहर से सजे!

भले ‘आक़िबत की शब को ही बख़्शी जाए,
तेरे निगाह-ए-करम की हसरत लिए
हम भी तसल्ली से बंधे ...

मुहाफ़िज़

ना चाह के भी देख रही थी वक़्ती आना-जाना,
मुसाफ़िरों के नये-नवेले कारवों का,
उनके कारोबारी नज़ाकतों का,
बेनियाज़, भले जिस ठोर रुके ये तेज़-रफ़्तार
सिलसिला,
जब तुमसे आ टकराई...
लगा पुरानी, सोए सफ़ों पे हलकी पड़ी लिखाई
अचानक जी उठी।
हैरती में पलटी
तो सफ़र में पीछे छूटे सब बेमाने से वाक़यात, तालुक़ात
इक पल में उधड़, नज़दीक रेशा-रेशा हो गये।
शायद मुक़द्दस-अमानत थी मैं
जिसे बिखरी स्याही से फिर सुनेहरा करना था,

मुहाफ़िज़

शायद हिफ़ाज़ती पनाह के दामन में
मेरे मुहाफ़िज़ की आख़िरी समेटी साँस...
बहरहाल, अब इफ़्शा-ए-राज़ समझूँ इसे,
या रूह की तज्सीम,
हमनवाई कहूँ,
या नाम अता करूँ इसे
शाहकार-ए-मुक़द्दर,
ला-इल्मी सही, हक़ीक़त यही
कि ये क़ल्ब-ए-मोमिन जब भी धड़का,
धड़का सुन उन्हीं लबों से गुज़री
वही मुखलिस अज़ान।

हाँ, हर दर क्यों न हो उसकी, जब हर शय पे क़ादिर वो,
लम्हा-लम्हा मुझमें हाज़िर है!

रंगरेज़ा – कसौटी

काजल की कसौटी पे खरे उतर पाओगे, निज़ाम?
तुमपे इक स्याह पहेली की अशर्फ़ी आज भी उधार है ...
मिन्नत-समाजत का दौर बहते झरने के साथ गुज़र चला,
और नाज़-ओ-अंदाज़ दुनियावी दायरों के बूत की क़ैद
से आज़ाद।
अब या तो मुझे शफ़क़ अल-अहमरी रंग दो,
या फिर मुझमें उतर आओ, रंगरेज़।

***

भीगे साहिल ने खोज़ा है तुम्हें सरे रेगिस्तान ...

***

रंगरेज़ा – कसौटी

दिल-आज़ारी की बारीकियों का मुनाफ़ा तर्क कर,
जी-हज़ूरी के इस नेक ख़्याल को काबिल-ए-फ़क्र होने दो।
मज़हबी, बाज़ारी, बुनियादी कैफ़ियत से दो-चार,
इस रूह की छिली दीवारें इज़्ज़त-ए-नफ़्स की मुंतज़िर हैं,
तुम बावली सफ़ेदी की कच्ची-पक्की,
कोरी परत चढ़ा, ख़ुद कर लो।

रंगरेज़ा – वसूली

आप लब खोलेंगें भी नहीं और हम जान जाएँगे, मियाँ ...
इस मुटियार के हवासों चढ़े इश्क़ की लगाम
इतनी ढीली नहीं!
जान देती नहीं, जानलेवा है।
नज़रबंद भी ना होंगें
और हिर्स-ओ-आज़ पे सेकी फ़तह
लाहासिल ही रहेगी।
इसलिए कदम ज़रा आहिस्ता से रखिए
इस हरीम-ए-नाज़ में,
कहते हैं, चौदहवीं के चाँद की
बेताज हुकूमत की शौक़त बसती है ...

***

रंगरेज़ा – वसूली

वक़्त की दौड़ में पीछे छूटे सब मंज़र आज
हसरती सैलाब साथ लौट आए हैं,
(ख़ुद) आप से अब कैसी जंग, कैसी आज़माईश ...
माज़ी रफ़ीक़ बन बाँध डाले खड़ा है,
तो बोलिए निज़ाम, वसूली में क्या अता फ़रमाएँगे?
फ़लक के सितारे थमे हैं साँस रोके, देखने,
इस पहर किस रंग से हमें सजाएँगें ...

रंगरेज़ा – सरमाया

क़ौस-ए-क़ुज़ह के सब रंग साथ लाये हो कि नहीं?
आज सिर्फ़ मोहब्बत की मेहर से काम न चलेगा!

ओ रंगरेज़ा, जो धनक पूछ ले इस गुस्ताख़ी का राज़,
तो कह देना, अनमोल का अर्ज़ी मोल चुकाना है!

फिर चाहे फटकार पड़े, इंकार की नौबत आ जाये,
इस ज़िद्दी दिल की ग़ैर-वाजिबी,
ग़ैर-मामूली मिल्कियत का मान रख लेना!

और जो इतने पे भी कुछ न हो हासिल,
तो अपनी सुर्ख़ी को ही सरमाया-ए-हयात बना देना।

रंगरेज़ा – नगमा-ए-इश्क़

अब तो जमाना पूछे है मुझसे बा'इस-ए-मसर्रत, निज़ाम!
बोल, बेपर्दा कर दूँ दरमियान
ये नगमा-ए-इश्क़ ...
जो सिली हैं तूने सतरंगी सुरों की
लम्बी क़तार,
फिर फ़ुरसत कहाँ इस जुमें रात,
कि कोई ना-आशना तसव्वुर इस ज़ुबान सजे!
तू न कह के भी कुछ,
इशारों-इशारों में जो सब कुछ कहे,
किनाया-बाज़ी की तेरी ये बेतकल्लुफ़ धार,
बेरहम छुरी-सी, ज़िस्म पे तेज़ लगे!

रंगरेज़ा – नगमा-ए-इश्क़

वो कहते हैं, मेरे ख़ुदा-ए-मज़ाजी के तौर-तरीक़े
ग़ालिबन दुरुस्त नहीं!
कि ज़ेब न दे मेरा यूँ इतरा-इतरा
तितली-सा फिरना,
न ही हुस्न-ए-मलीह के रूबरू
मेरे हाफ़िज़ का शर्फ़-ए-क़ुबूल से झुकना!
उफ़, अब तू ही समझा नादान,
बेरंग काफ़िरों को, रंगरेज़ा ...
उस हकीक़ी के अमल का रद्द-ए-'अमल है
ये लाल मुश्क!
नाफ़रमानी की शरीक़ जात में
कोई गुंजाइश नहीं!

रंगरेज़ा – इक़बाल-ए-ज़ुर्म

तेरे ही तीख़े मिज़ाज में डूबा,
इक शायराना मिसरा नज़र, निज़ाम,
अब कातिल मुखातिब हो, या क़ायल,
ये इंतिख़ाब तुझपे छोड़ा!
नपा-तुला हिसाब
तिजारती सियासत-गरी का
अंदाज़-ए-बयान होता होगा,
हमें तो हक़ी लफ़्ज़-साज़ी में बंदिश नहीं,
रिहाइश पसंद, साहिब!
फिर चाहे इल्ज़ाम हो तस्लीम का,
या दाव पे रखी दिली हुकूमत,
इक़बाल-ए-ज़ुर्म पेश है,
बोल तो ए'तिराफ़-ए-मोहब्बत नेग दूँ?

रंगरेज़ा – इक़बाल-ए-ज़ुर्म

जो मामलात ग़र उलझ जाएँ
रांझे के मंसूब करने से पहले,
उँगलियों पे लपेटे लेना
हीर की लाल चूनर जैसे ...
कि मुसब्बर है इंतज़ार
शहंशाही कायनात का,
फ़क़ीरन भी हो जाती है निहाल,
तो ये नीश-ए-फ़िराक़ क्या,
तू क्या,
और मैं क्या, रंगरेज़ा!

रंगरेज़ा – इश्क़ मुर्शिद

इस ना-गुफ़्ता आरज़ू को परवान दे
जकड़े पंखों को खुला आसमाँ कर दिया तूने, निज़ाम।
जो माँग ले, सर-आँखों!
पर्दानाशीं जो थी कभी तेरी दो-दिली से,
मालिक-ए-हक़ीक़ी है तू आज उसका,
अब स्याह भी तुझसे रोशन, सफ़ेद भी।

***

काग़ज़ी फ़ासले मिटा के खींचीं है
मंज़िल-ए-हस्ती ने राह नई,
ज़ेर-ए-'अमल है जहाँ
इश्क़ी फ़लसफ़े की करवाई।

.

रंगरेज़ा – इश्क़ मुर्शिद

सो रंगरेज़, तेरी मल्कियत पे है अब सब कुछ
मौक़ूफ़,
ज़ब्र-ए-मशीयत का फेरा तो कब का
निकल गया!
इस से पहले तुझ में घुल सुरमई हो जाऊँ,
आ, जल्द मुकर्रर कर
कि ये इश्क़ मुर्शिद मेरा,
या मुरीद-ए-खास ...

रंगरेज़ा – "अलिफ़"

आए-गए कई तमाशबीन, मज़मा-सा लगा सरे बाज़ार,
नक़ली चेहरों का कभी,
तो खोटे सिक्कों का कभी ...
बेचने ख़ाली रूह की कगार पहुँची बेसुकूनी,
या शायद इत्तिफ़ाक़न मिले
लम्ही ठहराव की बेयक़ीनी।
नासमझे सब मुरादी,
"अलिफ़" की परस्तिश में हिस्सेदारी कहाँ,
तर्जी कहाँ,
वज़ूद कहाँ!

नफ़्स-परवरी के तलबगार
बदतहज़ीबी में नज़र उठा तो लेते, निज़ाम,
ग़र तेरे तहफ़ूज़ की आशनाई, रक़्स करती,

रंगरेज़ा – “अलिफ़”

नाकामी समेटे, वो क्या जाने,
जहान की रंगीनियों से मावरा है
रंगरेज़ा की तौफ़ीक़!
जिसमे भीग, ये क़ल्ब-ए-मोमिन हो जाता है
सुर्खाब।

***

इश्क़ की सलामती है “अलिफ़” से,
आग़ाज़-ओ-अंजाम “अलिफ़” से।

रंगरेज़ा – मन मायल

बोल निज़ाम,
रख लूँ तुझे इन पलकों के साये में,
जो बात तूने छेड़ दी आज
महताब-इश्क़ के जमाल की?
कहते हैं रोज़-ए-अज़ल जब क़िस्मतें तक़सीम हुईं,
चाँद मेरे हिस्से आया,
तो क्यूँ हैरान ये असासा
रोज़-ए-जज़ा तलक साथ रहेगा ...

वास्ते तेरे, शब भी गहरी, काली समाई तले
सँभाले है तोहफ़ा-ए-अश'आर,
तू परत-दर-परत अमानती चादर
उठाने का ज़र्फ़ तो रख!

रंगरेज़ा – मन मायल

फिर भले ज़ाहिर न कर
कोई एहसास-ए-मसर्रत,
'अहद-ओ-पैमाँ की नुमाइश में
उसे भी दिलचस्पी नहीं!

जान ले, मन मायल हुए बैठा है,
न तसल्ली रास आएगी,
न तिश्नगी होगी मंज़िल ...
ओ रंगरेज़ा, तेरे रंगों में खो तुझे पा जाऊँ,
माँग, तेरी भी, ख़ुदाया, चाँदनी
तक़दीर हो!

रंगरेज़ा – गौहर-ए-नायाब

किन लफ़्ज़ों में पिरो हरूफ़-ए-तहज्जी बयान करें
ये हुस्न-ए-शय, निज़ाम?
तेरी चुभती, इकट्ठी, ख़ामोश ख़्वाहिशात,
जो कभी जगा के रखती थीं मेरी बेचैन रातों को,
आज ख़ुद शिकस्ता खड़ी है,
लिखे खत्तों के बीच,
हर्फ़ों के क़बा को उतार, बे-लिबास ...
रिवायत-परस्ती के फ़क़ मक़बरे को
गौहर-ए-नायाब से कर बुलंद!

***

बता फिर,
जश्न की पहली सलामी मंज़ूर होगी,

रंगरेज़ा – गौहर-ए-नायाब

या बैठेगी अदालत,
कि आख़िरी पेशी, आख़िरी सज़ा
अभी बाक़ी है ...

***

तू जो चाहे फ़ैसला कर मुक़र्रर –
फ़रिश्ते तक झुके हैं इस्तक़बाल में।
मशरिक़ से उभरता सिराज़ इक बार फिर
तेरा ख़लीफ़ा बन आया है, रंगरेज़ा ...
लब खोल, क्या इब्तिदा-ए-इश्क का ये
सुर्ख, इलाही पैग़ाम क़ुबूल है?

रंगरेज़ा – मन जोगी

कितनी गिरहें खोलेगा, निज़ाम,
जो मुझमें तु, तुझ में मैं उतर आऊँ?
हर धागा संग कई मौलाई करामातें बाँधे है
यक़ीन के सफ़र में,
हमक़दम जो हुआ अब
तो इनमें बस के, ये जान!
एक सिरह तू है,
तो दूजा मन जोगी,
करिश्माई कलामों से लैस,
आब-ए-साराब में
पोशिदा ...

सो जो आए रोज़-ए-अब्र की केसरी, कज़रारी भोर,
तो चख झूम साथ मेरे दो पीली बूँद!

रंगरेज़ा – मन जोगी

सो जो आए रोज़-ए-अब्र की केसरी,
कजरारी भोर,
तो चख झूम साथ मेरे दो पीली बूँद!
आफ़ताब-ए-'उम्र के फ़ज़्ल की दोशीज़गी
निखर आई है हयात-ए-इश्क़ में,
ओ रंगरेज़ा!
फिर आ, चाहे अरमान में भर मेरे,
या हुर्मत-ए-बंदगी में बाँध कर मुझे रिहा ...

रंगरेज़ा – इश्क़-ए-ला

नुक़्ता-ए-आग़ाज़ की मंज़र-कशी क्या,
तारीख़ क्या,
ये मुलाक़ात तो इस क़ुद्स-मुक़ाम तय थी,
निज़ाम।
तभी तो जावेंदाँ है पैग़म्बरी अमान का साया
इस क़दम,
भले दरख़्वास्त मुक़ाबले ज़रा मुख़्तसर थी मेरी...
यहाँ आमीन, और सजा दी पाक मुसव्विर ने
गुलफ़ाम रंगों की ख़्वाब-ए-ताबीर,
फिर भी सोचता है,
जुर'आ-ए-'इर्फ़ान कैसे हुआ इन लबों को नसीब?

***

रंगरेज़ा – इश्क़-ए-ला

आज हर साज़,
हर अंदाज़ मुकम्मल है इश्क़-ए-ला तेरा,
रंगरेज़ा,
कि गुल भी तू, गुलशन भी तू,
आबिद भी तू, इबादत भी तू...
तो आ देख,
क्या शौख़ सहर उजली है शब-ए-विसाल की!
क्यूँ बेमाने लगे अब सवाल भी,
जवाब भी।

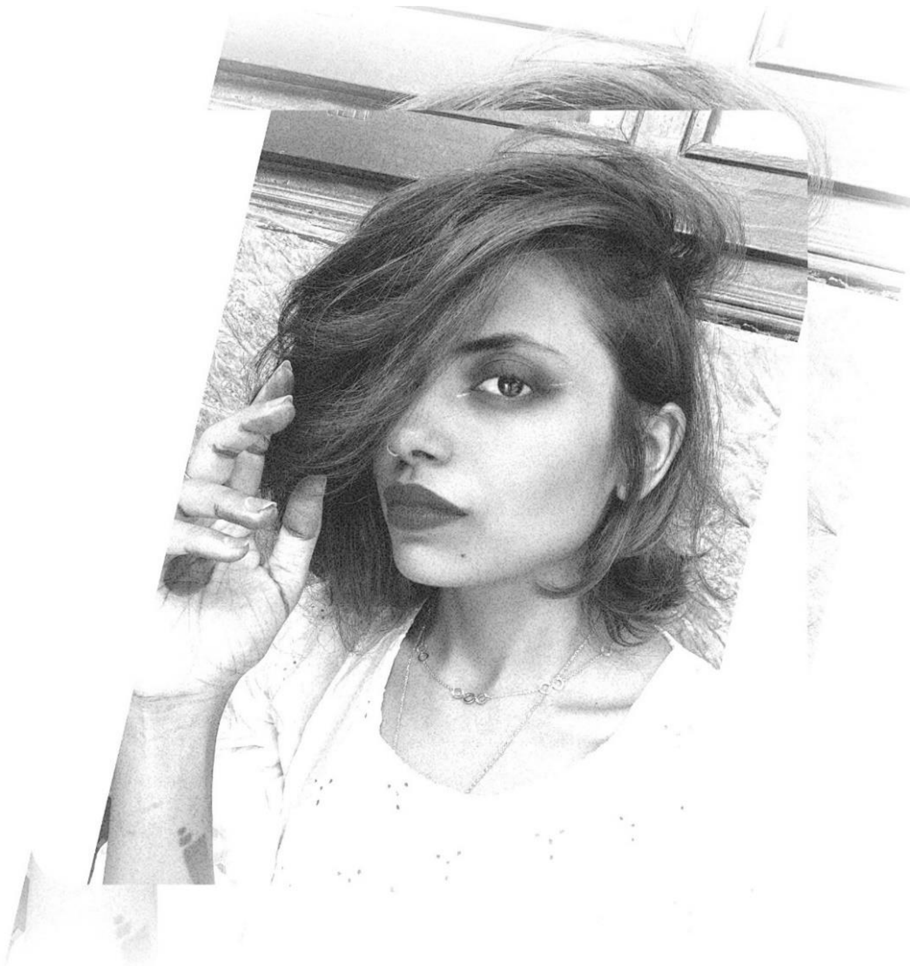
मोहब्बत

मोहब्बत पर नहीं कतरती,
परवाज़ नहीं रोकती,
बस दरमियान सभी ज़ेहनी फ़ासले
रद्द कर देती है ...
मुख्तलिफ़ राहें, मुख्तलिफ़ सोचें,
इक अतरंगी ताल्लुक़ में होले से लपेट
जोड़ देती है।

मोहब्बत मनमर्ज़ी खुले पिंजरे में
ताउम्र क़बूली क़ैद का इज़हार है ...
मोहब्बत वक़्त के खींचे दायरे के बाहिर
अता किए आग़ाज़ का इत्मिनान है,
नेक इबादत से झुके उस ऊँचे पैग़म्बर का
बेशक़ीमती आख़िरी फ़रमान है।

बेमुरव्वत इंतज़ार

ग़ैर-मामूली अन्दाज़, ग़ैर-मामूली हालत में सही,
इक मुक़र्रर मुलाक़ात का कर्ज़ उठाये रात
बिन कटे कटने को थी बेक़रार,
फिर भी दरमियान फैली ख़ामोशीयाँ
सब्र की नाज़ुकी को नज़दीकी में तबदील ना कर पाईं।
बात बेहद ख़ास थी, और ठहरी आज़माइश से पुराना,
आपसी सरोकार भी,
सो, ज़र्रा-नवाज़ी, सूद छोड़ असल को नज़रबंद रखना
मुनासिब समझा।
पर जहाँ इकलौती गुफ्तगू में मुब्तला
ख़ुद वक़्त टकटकी बाँधे राह भूल बैठा,
वहाँ कल चुराई चाँदनी के इक तन्हा,
अदना लम्हे की क्या बिसात ...
बाज़ी थी आज़ाद, बेमुरव्वत इंतज़ार की बेताज़ हुक़ूमत,
सो वो और हम बेख़ौफ़ खेल गये।



ज़ह-ए-नसीब

वो चंद अल्फ़ाज़ मेरे
जो तुम सिरहाने अमानत समझ समेटे थे,
कि न बिसरने वाली कँटीली रातों में
नर्म मलहम का काम देंगें,
उन्हें अब बिन हिचकिचाए
फ़ज्र की आज़ान से पहले अलेहदा कर दो ...
वस्ल की चाँद रात आज
काजल बन इन आँखों में उतर आयी है।

फिर चाहे अव्वलन
आयत की तरह खुश्ख़ होठों को पाकीज़ा करूँ,
या कुछ और देर बाकी बची जफ़ाएँ
मुसल्लत होने दूँ इस आख़िरी पहर,

ज़ह-ए-नसीब

जो अक़ीदत मेरी दुरुस्त है उस फ़राख़-दिल
सोने रब पे, और उसके करम पे,
सो कितने भी इक़्दामात कर ले भले तक़दीर
शब-ए-फ़िराक़ के न गुज़रने के,
मेरी रज़ा में उसकी रज़ा मिल गई है ...

अब इंसानी इदराक से मावरा,
क़ुबूलियत नामुम्किनात के दायरे से निकल
शफ़क़ी रंग खिलाएगी।

इता'अत

आशिक़ का इक़बाली बुलंद मिज़ाज
माशूक़ के ऊँचे तख़्त की सरपरस्ती नहीं,
बक़ा की अमान का तलबगार होता है।
हक़-हुक़ूक़ क्या, ये ज़ात क्या, एहसासात क्या,
जज़्बा, इदारत, ख़ुद मोहब्बत भी
निगाहबान खड़ी रहती है,
जब नूर-ए-सबा मुस्तक़िल हुक़ुम ज़ारी करती है।
कुछ ऐसी है उस औज-ए-कमाल की हस्ती,
कि इंसान फ़ानी हो जाए भले, ख़ुदाई साया बाक़ी रहता है।
फिर चाहे ये जश्न रूहानी हो या ख़ाकी,
ज़रीन ताबिश में निखर ख़ुशक़िस्मती
इता'अत क़ुबूल कर ही लेती है।

तृप्ति

कोई सागर से पूछे क्या प्यास है होती?
हर बूँद में जिसके जीवन, हर बूँद फिर भी नमकीन।

लहरों के छोर को मापती इक अथाह गहराई
और उसकी परतों में समाई, उभरती डूबती ...

आँसुओं के नाम लिखी, लबों तक आके हर बार लौटती
अधूरी-अधूरी तृप्ति।

अफ़वाह

ओ साहिब, भले तू लाख पर्दों में
रख मुझे,
मगर हर किसी की ज़ुबान से ज़ाहिर
अफ़साना मेरा,
जब तिश्नगी भी मैं,
और आतिश भी,
तो कैसे न सच्ची झूठी अफ़वाह से धड़के
ये दिल आशिक़ाना तेरा ...

1

तृष्णा

सजदे में रखे थे चंद फूल
गुलमोहर के
इनायत है तेरी
की कबूल किया कृष्ण आँखों से।

नमकीन समंदर-सा
फिर खुशनसीब हुआ एहसास
जो दो अश्क गिरे होले-से
रेगिस्तानी हाथों पे।

ढाई अक्षर के तेरे नाम को
जो अब समझी हूं
तो क्यूं कैद रहूं जिसे खोला है
पश्मिनी ख्वाबों ने।

दरस को तरसी जिंदगानी का
ये अदना खयाल था,
कैसे नुमाइश करती सरेआम
इन बेरहम आहों में।

आजमाइशों को पीछे छोड़
चुनी है राहगुजर,
भला कब तक जी बेहलाती
खामोश बातों से।

मुकद्दर से अब न कोई रंजिश,
जिसकी तपिश ही काफ़ी थी
रूह-ए-आस को सुलगाने
सर्द, बीती यादों पे।

सब्र की आखिरी सीमा है अब
इस पल पार,
क्यूं न उड़ान भरूं मैं
जब संभाला है नर्म सांसों ने।

न कश्मकश है कोई यहां,
न पिघलने का डर,
कुछ ऐसे रोशन है लौ
तेरी चांदनी की बाहों में।

चाह से भी ऊपर का
खालिस मुकाम ढूंढ़ा है मैंने,
टूट जाए यूं कैसे
जब बंधा हो रेशमी धागों से।

न ज़माने की कड़वाहट भेद पाई
दीवारों को,
न ही लाद पाया कोई
तकरीर बिस्मिल कानों पे।

जन्नत में भी खोजाती
तो भी तू यूं न मिलता
जो कांटों पे चला के हासिल
करवाया है पांवों ने।

सोचा न था कि दरबदर भटक के
तुझपे ही रुकूंगी,
क्या अजब तृष्णा थी बसी
इन बोझल राहों में ...



मेरा कश्मीर

अहलाम होने का मौका कहाँ देती है मोहब्बत,
फिट्टे मुहँ, ये बा-दस्तूर अचानक आ धमकती है।
तुम खुद से क्या पूछते हो,
हर सवाल का जवाब नहीं होता
सरफिरे इश्क़ में।

न हिज्र कोई न अब विसाल,
न पाने की ख़ुशी, न खोने का मलाल,
वस्ल की रात नज़रबंद है आज
कई मुद्दतों बाद।

सुर्ख रंग का शामियाना सजा है
मेरे कश्मीर का,
कुर्बत से कुबूलियत का ये सफर
मुबारक, ज़हनसीब।

मेरा कश्मीर

इंतिख़ाब तो किया था हमने चांदनी में सराबोर
तुझमें समां जाने का ...
टूटे तारे से सजदे में माँग लेते तो वो भी
हरगिज़ इंकार न करता।
पर हम ठहरे ज़रा ज़िद्दी ...
कि जब तलक कश्मीर खुद न आएगा,
जो हमसे रूठा है जाने कितनी सदियों से,
हम भी न जाएंगे।

सो आना ही पड़ा उसे हमें लेने।
आज ओढ़े हैं उसे हम इस बदन पे
मोहब्बत की तरह ...
जा कुबूल, कुबूल, कुबूल किया तुझे हमने।

जाँ-निसार

ना वक्त ठहरा, ना इंसानी जात,
बस तू रहा और मैं ...
सदियों लंबा, अलग-अलग सही,
मिल के गुज़ारा हमने इंतज़ार ...
तब सब्र किया, अब शुक्र।

ले आई हूँ साथ वापस तुझे,
बसा चिनार के इक ज़र्द पत्ते में रूह।
झील के किनारे बटोरी,
और आँखों के समंदर में समाई दो बूँद।
कुछ और भी हक समझ रख लिया संग –
वादी के शोख़ होठों से काटा
अपनियत का इक रसीला, अधकटा लम्हा,
चख लेती हूँ जिसे अक़्सर तुझे कर यादों में आबाद।

***

जाँ-निसार

माना हमनवाई न थी क़ातिब-ए-तक़दीर की लिखाई में,
बहरहाल, इशरत-ए-फ़र्दा का ख़्वाब लिए
तुम-मैं हमसफ़र तो रहे।
शाम उतरे, उस बीती रहगुज़र का सवाब
इस पल से बेहतर क्या होगा,
कि दुआ आमीन की ख़ुशबू से नवाज़
एक मिट्टी कर गई हमें।

अब ना महरूमी से वाबस्ता है
कोई अनकही, अनसुनी शिकायत,
ना तल्ख़ियाँ कंटीला डेरा डालें हैं नज़दीक।
बस खुला, नीला आसमान है, तू है, और मैं हूँ।

***

जाँ-निसार

उँचे इदारों के रखवाले क्या तय करते
तेरी-मेरी औकात ...
नूर-ए-जहान का मुक़ाम दिल में जला
लौटी हूँ जाँ-निसारी को, मेरे मौला,
जो कबूल कर लिया तूने,
तो बिस्मिल्लाह बोल!

ईमान

उससे बिछड़ने की टीस को
ज़ेहन के स्याह वीराने में क़ैद किए,
पहाड़-सी ज़िंदगी काट, आज उम्र के उस लाचार,
आख़िरी पड़ाव पे आ पहुँचे हैं
जहाँ से न आगे का रास्ता तय दिखता है,
न पीछे मुड़ना ही मुमकिन।

हवासों पे सवार, ख़्वाहिश-मंद,
बस ईमान पक्का किए बैठे हैं इस इंतज़ार में
कि ख़ुदा की रहमत
अब तलक फैली ख़िज़ाँ में
फिर बहार बन उतरे,
और ख़ुश्क मिट्टी-सी प्यासी ये रूह
उसके इक अनमोल अश्क़ में भीग
तजावुज़ कर सके।

अक़्स

ज़हन की सर्द वादियों में तेरा नूरानी अक़्स
किसी संजीदा ख़ामोशी-सा पिघलता
अरसे बाद आज यूं बेपरवाह हो मुझ से
मुखातिब हुआ है।

अब चाहे फरमान ज़ारी हो,
या नज़रबंद किया जाऊं इस इनायत के सदके।
जो मुतासिर हो पेश हूं तेरे क़दमों में,
तो इस शम्स-ए-ख़्वाबगाह को
ज़रा और पाकीज़ा होने दे।

तहफ़्फ़ुज़

उनके सीने पे छलकी ये चंद बूँदे आज
जो उम्र-भर बटोरी थकन को अपने साथ ले चलीं,
तो आग़ोश में सिमटे
हम बस उन्हें यूँहीं चुपचाप निहारते रहे।
ख़्वाब और हक़ीक़त में अब फ़र्क़ क्या करते,
तहफ़्फ़ुज़ की उनकी गर्माहट में समाये मोम हो पिघलें
या कुछ और देर रुक जायें,
इस सोच तक पे अब हमारा कोई इख़्तियार न था ...

...

इन्तख़ाब निगाहों में न ठहर पाने वाली ख़ुशी का था,
या कोई पुराना दर्द इस पल छूट रहा था,
जो भी हो, सुकूनी पनाह मिल गई थी,
उन्हें भी, हमें भी।
लफ़्ज़ों से परे, उस ख़ामोशी में,
ढलती शाम की क़ुबूल, सिंदूरी आँच में इक नाम से जुड़े,
बा-इज़्ज़त, उनकी मिट्टी में मिल हम सँवर गये ...

सुर्ख़ाब

हमने सितारों से माँगा दे दें वो पल हमें
जिसे जीके हम इक बार फिर नये से हो जायें,
कि कर दे आग़ाज़ किसी अछूती, सुनहरी सहर का,
देखे ख़्वाब से वाबस्ता किसी अधूरी, कच्ची ग़ज़ल का ...

आँख खोली
तो फ़लक शरमाये खड़ी थी सामने, सुर्ख़ाब,
हथेली में सँभाले वही ख़ालिस, रोशन,
मुख़लिस बसेरा।

फितूर

तू किसी फितूर की तरह पन्नों पे गुज़र चला,
फिर भी हिकायत-ए-ज़िंदगानी अधूरी ही रही।

नूर पे कुर्बान चांदनी कटती न भला तो क्या करती,
शब-ए-फ़िराक़ बिसरी जो नहीं ...

इंतज़ार

इंतज़ार घड़ी की सुई की तरह बेकरार है,
कि कब तुम आओ और वो रुके।

आसमान के पहलू में वक़्त तो पहले भी न ठहरा था,
ढलता चाँद शिकायत करता भी तो किस लिए।

नज़राना

कोई सफाई न दूँगा, न दलील ही पेश करूँगा,
गुनहगार हूँ तुम्हारा जो चाह के भी न आया।

नज़राना ढूँढता रहा रात-भर इन कदमों में रखने को,
कि जब हुई सहर तो मुठ्ठी में बस चाँदनी को ठहरा पाया।

मुकर्रम

उस सुरमई शाम की बिसरी तेरी
उस आज़ाद ग़ज़ल से वाबस्ता
कई मार्रुफ़ यादें इकट्ठा किये बैठे हैं हम
गर शायद ही तुझे इल्म हो।
तेरे लफ़्ज़ों की आशनाई गरमाई
जो कभी कतरा-भर तरन्नुम पे मुहासिर थी,
आज हमारी सर्द गहरी रातों को अता किया
इकलौता ठोर ठिकाना है।
सो सफ़ेद हुस्न ओढ़े आतिश-ए-चिनार
जब भी झांकता है खिड़की से अंदर,
हम मुकर्रम साया समझ उसे तेरा
हर दफ़ा जबीं चूम तस्लीम कर लेते हैं।

मरकज़

वो पहली मुलाक़ात भले,
पर कुछ पूछे बिना जो तुम साथ चल दिये
तो क्यूँ न मोम बन पिघल जाऊँ ...

तुम्हारे हल्के से इशारे पे सर-ए-तस्लीम ख़म।
मरकज़ मेरे, अब तुम पर आके न रुकूँ तो कहाँ जाऊँ।

क़रार

तेरी इक छुअन से सीने में उठा ये कैसा एहसास,
पहले न महसूस हुई यूँ
अंदर तक जलाती ये कैसी प्यास ...

आगोश में समेटे हुए तुझे इक पूरी नींद सो सकूँ,
इस क़रार को जीने तरसता रहा
मेरा सदियों का इंतज़ार।

ठहराव

निशान खो रहा था ज़िंदगी की जद्दोज़हद में भागते, ढूँढते,
जब तुझसे जा टकराया उस ढलती शाम के किनारे।
लगा पड़ाव मिल गया कोई।

वो ठहराव
जो मुझ में डूबता-उभरता था,
तुझ में घुल साहिल को प्यासी मौज बन उफन पड़ा।
बेख़बर बूँदें, हो मुझसे जुदा, तेरे लबों पे जा उतरी।

इससे पहले की तुम कुछ कहती,
फ़लक शर्म से गहरा, अहमरी हो चला।
और एहसास-ए-इश्क़,
मेरी निगाहों की क़ैद से छूट,
महताब की पाकीज़गी ओढ़े तेरे दामन में सिमट गया।

रोशनी

मुद्दतों बाद इस पेशानी पे रोशनी ने अपना घर बनाया है,
कैसे न ख़बर हो हर किसी को।

मुँडेर पे बैठी चमक रहीं हूँ,
तेरी दस्तक़ जहाँ अब तक खनकती है।

नसीब

सोचते थे गोया बेपरवाह बहते इस ज़ालिम वक़्त के साथ
आँखों में ठहरी नमी तक अब न रही।

पर कल रात जो किसी की परेशानी के ख़याल से परेशान
करवटों में काट दी,
तो ये ज़र-ए-एहसास रूह को बड़ा मुनासिब लगा।

शायद आख़िरी सुकून का मुक़ाम
तय कर ही दिया है हिस्से इस सफ़र में,
तभी तक़दीर से खुदाया दर्द फिर दर्द ढूँढ लाया
नसीब में।

शामियाना

हम नज़र-भर देख भी न पाए हैं तुझे,
और तू रुखसती पे आमादा है।

कुछ देर ही सही ठहर जा बस यहीं,
कि आरज़ू का शामियाना उजियाला है।

मक़सूद

जिस मक़सूद का वास्ता दे तुम पीछे छोड़ चले थे
उसकी मंज़िल आज भी धुँध में खोई है।

ओस की इकट्ठी बूँदों से धो इस गुज़रे कल को
लौट आओ, नई सेहर होने को आयी है।

तस्लीम

उन्हें हम क्या कहें
कि शब-ए-महताब क्यूँ जवान है अब तलक।

ये राब्ता नूर का नूर से है,
तस्लीम लाज़मी है।

आज़माइश

वक़्त की आतिश में जला के अपनी तमाम ख्वाहिशें
खरे सोने-सी मेरी ये आज़माइश पेश है तुम्हें।

तुम आदत समझ के जिस परवाह को हक़ मान लिए,
उसी का आज आख़िरी हिसाब माँगती हूँ।



नज़र

इन दो आँखों के दायरे में तुझे कैद रखा है,
कि ज़ुल्मी ज़माने की नज़र न लगे।

हो सके तो मुझे भी उनमें समा ले,
प्यासे समंदर की प्यासी मौज हूँ इसलिए।

रिवायत

अजब रिवायत है इस मज़ार की
जहां किसी को भी हस्ब-ए-आरज़ू न मिला।

गर तुझे सुकून-ए-ज़मीन न मिली,
तो मुझे भी नैमत-ए-आसमां न मिला।

रंग-रसिया

चाहे कागज़ पे जैसी-भी तस्वीर बना लो,
किसी कदर न समा पाओगे रंगों की चंचलता में।

आस्तीन पे छिटके दाग़ से क्या पूछते हो,
रंग-रसिया, झाँको तो, कहीं मन न केसरिया हो चला।

श्रृंगार

बैठी तो थी करने वही दुल्हन-सा श्रृंगार,
पर आईना इक झलक में शरमा गया।

चेहरे पे बीती रात की छुअन बरकरार थी,
निहारता सिंदूर कुछ और गुलाबी हो चला।

हिसाब

बीती रात का हिसाब न पूछिए हुज़ूर,
मेरी वादी में इतने तन्हा ये सितारे भी नहीं।

जो आहों में काटी तो कट गई,
वरना गुज़रने को ये ठहरी जवानी कम नहीं।

मुक़ाम

तमाम किस्से अपने बटोर आज जला चुकी,
तब भी न तू जुदा है न तेरी याद।

चाहे अंगारे समझ चाहे स्याह राख़ का ढेर,
अब अपना यही मुक़ाम, यही देस।

तारीफ़

क़ाबिल-ए-तारीफ़ है आपकी हर वो अनूठी-सी अदा
जो हमसे हमारा ही दिल-ए-क़रार छीने जाती है।

कहिये, इस आह की ही पेश क्या शिकायतें करें,
जो गर्म साँसों को भी शबनम में भिगो लाती है।

ज़रूरत

इतना खोज़ा तुझे अज़नबी चेहरों और नामों में,
कि इक दौर ऐसा भी आया
जब अपनी ही शिनाख़्त खो गयी।

जो फ़िर पाया उसे मुद्दतों अंधेरों में तरसते, भटकते,
तो इस आख़िरी पड़ाव पे तेरी ज़रूरत न रही।

याद

इक उम्र बिसर गई दास्तान-ए-वक़्त में खोए
जो किसी ने पूछा, तुम ठीक हो?

अजनबी ही सही, ये चंद अल्फ़ाज़,
ज़ेहन की कुरेदी चाँदनी में भीग,
मुअज़्ज़न के माफ़िक़ लम्स-ए-आश्ना से,
इस प्यासी रूह को फिर कुछ अपना,
फिर कुछ क़रीबी याद दिला चले।

क़त्ल-ए-आम

ख़बर कुछ ऐसी थी कि सबके बरबस टोकने पे भी
होशों-हवास खोया, मैं रोके न रुका।

यहाँ उसने झुकी निगाह को आहिस्ता से उठाया,
वहाँ भरी दोपहर क़त्ल-ए-आम हो चला।



निशान

दरवाज़े से सटे उन बीते दिनों को कैसे मिटाऊँ,
ज़रा-सी आहट पे उभर आते हैं।

जो वक़्त को भूल मिट्टी पे खींचा करती थी,
वो अँगूठे से कुरेदा निशान अब भी गहरा है।

मुकद्दर

कभी बात ज़ुबान पे आ रुक जाती,
कभी अँगड़ाई मसक के रह जाती।

पूछने वाले तुझे क्या बयान करें ये हाल-ए-दिल,
कि आहटों ने मौका तो दिया पर मुकद्दर नहीं।

याराना

कोई पुराना रोग लगता है ये याराना,
न मर्ज़ समझ आए, न रात का फ़साना।

चाँद ढलना भूल जाए, लब गुनगुनाना,
जैसे मिल गया हो किसी बीते इत्तिफ़ाक़ का हसीन बहाना।

छवि

जिसका नाम तक पता नहीं,
ढूँढू कहाँ उसे इस भरे वीराने में।

बस इक छवि झलक जाती है नज़रों के पार,
जब भी सुनती हूँ अपनी धड़कनों को खुद से गुफ़्तगू करते।

जज़्बात

रूईनुमा जज़्बातों को होले से सहलाना,
रेशमी तारों की उजली चादर ओढ़े जो बैठी हूँ।

चकोर की तड़प में फिर कैसा बुझना, कैसा जलना,
जब कजरारी आँखों में तुझे समेटे यूँ बहकी हूँ।

मूरत

कोई पूछे कि तेरा रूप कैसा है, तेरा भेस कैसा,
तो क्या कहूँ उन सबसे अब तू ही बता।

मुझे तो न पानी अलग दिखे, न माटी जुदा,
मूरत भी जो रख दियो सामने तो किसकी ख़ता।

तलाश

ख़ुदा को तलाशते मुद्दतों बाद तेरे दर पे आके ठहरा हूँ,
अब और आगे जाने को न कह।

उसके कानों तक मेरे क़दमों की चाप नहीं पहुँची,
तुझ तक आनी थी, सो आ गई।

नज़रिया

ये अदना नज़रिया ही तो है जो तुम्हारी खामोशी को
दरमियान बढ़ते फ़ासलों का दोषी न करार कर,
जाने दिया।

वरना तुम और तुम्हारे होठों पे ठहरे अल्फ़ाज़
कब के तैयार थे पहचान को नज़रंदाज़ कर गुज़रने को।

आफ़त

सच पूछो तो क़ाबिल तो नहीं थे इतना भी
कि वो इक नज़र भी हम पे ख़र्च करें।

मगर जब इंसान मजबूर होता है अरमानों तले,
तो आफ़त-ए-दिल भी आशिक़ी लगती है।

मालूमात

सर-ज़मीन प्यासी है मेरी
तेरे हलके-से इक इशारे की,
जो साँय-साँय चलती इस हवा के पखों पे सवार,
मुझसे मेरे ही होने का वज़ूद पूछ रही है।

क्या जवाब दूँ उसे
जब मैं ख़ुद उन निगाहों में जा अटका हूँ
जो कहाँ ख़त्म होती हैं, कहाँ मैं शुरू,
ये मालूमात तक अब ना-अश्ना हुई।



II

तमन्ना ...

उधार की मसरूफियत में जो तुम बेहिस हो
चेहरे को फेर लिए,
तो अब क्या ही तुमसे
कुछ भी बयान करें।
जो अदना-सी गुस्ताखी को
भरे-बाज़ार तक्सीर करार दिए,
फिर क्यूं खामोश सज़ा से अपनी
बेबसी का गिला करें।

अजब आलम है कि
नज़र घुमाए बिना ही
ढूंढ़ रहे हो इन होठों पे
अपने अनकहे इल्जामों के निशान।
जैसे कोई गूंगी तस्वीर है
हवा में ठहरी ये चुपी,
जिसे कैद कर सकोगे
बीतते पलों के दरमियान।

रह-रह कर गर पुकारती
तो भी हर लफ़्ज़ खाली हाथ लौट आता,
कुछ बेहद ही ऊंची थी
उनके मोल की दुकान।
गैर आदतन सही,
पर हल्की उम्मीद थी
शायद फिर खड़ा हो पाए
जर्जर हालतों में धंसा
मेरे मन का मकान।

क्यूंकि सर्गोशियों से छुप
सांझ की चांदनी में
कभी जिया था तुम्हें
दामन पे फैला
असगरी फलक की घटा,
तो अब कैसे न बटोर लाऊं
उस ख़्वाब के चकनाचूर टुकड़े,
जिनके कोने चुभ-चुभ के सही
चांद को रहे थे जुटा।

जो इस फरियाद पे भी बढ़ जाओ तो भी
वक़्त न बढ़ेगा
पन्ने पर यकायक बिखरी
इस कारी लिखाई को मिटा।
समेटता रहेगा उगने वाली
हर सेहर का
ये बदकिस्मत, उदासीन उजाला
वो जिसे तुम चल पड़े
अंधेरों में लूटा।

पिंजरे की गीली ज़मीन समझ जिसको
तुम बेपरवाह हो
मुंह मोड़ चले,
उस अश्कों में भीगी नमी का
अब हम क्या करें।
तस्लीम के काबिल जब एहसास को
ठोकर मार पड़े,
तो क्या सजदे में झुकें,
कैसे इस खुदा की तमन्ना करें ...



सहारे

मयख़ानों से गुज़र रात यूँ बिसर जाती है रोज़ाना,
कि सवेरा अब झूठे-भी नहीं पूछता अपना पता।

तमाम शिक़वे तेरे जाम में डूबा, डगमगाते हम निकल चले,
भला तेरी यादों के सहारे कब तक ठहरे रहते।

सरमाया

भले कायनात को हमसे माँगते इक सदी बीत गई,
ख़ाली हाथ, नाउम्मीद तो फिर भी हम आज नहीं हैं।

अब नुमाइश क्या करें कि क्या खोया, क्या जोड़ा हमने,
ये नायब भीगा दामन उनके अश्क़-ए-अज़ीज़ का
मुजस्सम सरमाया है।

मोहब्बत

अब कैसे करें बयान
क्यूँ शब महताब पास आके भी हैं जुदा जुदा,
क्यूँ आग़ोश में नज़दीक बस चंद चटके सितारें हैं ...

शायद ये ज़िंदगी इस कदर टूट के करती है मोहब्बत हमसे,
कि हम किसी और के हो जायें ये ख़याल तक क़बूल नहीं।

मेहरबान

अमानत की तरह सम्भाल के रखा है मैंने
तेरे हर मुख्तसर व्यक्त एहसास को
कि कभी तो ये इंतिखाब आरज़ू परवान चढ़ेगी।

इंतज़ार-कश हूँ उस चिलमन के घुलने का,
जो फ़िलहाल मुस्तक़िल खड़ा है मेरे-तेरे बीच।

कहो तो मिज़ाज बूँदों का ज़रा बदल के देखूँ,
कुछ भीगी तवज़्ज़ो आख़िर हम पे भी मेहरबान हो जाए।

उम्मीद

यूँ खाली उम्मीद दे उस सुनहरी रहगुज़र की
इस बैरन रात के अँधेरे में निकल न जाना।

कैद मुज़रिम को भी बखुदा नसीब होती है खुली हवा,
पर हमें तो सिर्फ़ जज़्बे का सीलापन अदा होगा।

रुख़्सती

रुख़्सती की इजाज़त कैसे दे ये दिल नादान,
अभी ही तो इसने संभालना सीखा है।

तेरे दामन में खिले गुलज़ार की कसम,
उल्फत-ए-महक में इक आशियाना जीना है।

चित्रकार

किसी चित्रकार की तरह बेपरवाह, बदहवास
खींचती रहती हूँ लकीरें उगते सूरज के साथ।

ढलती रैन ख़ामोश ही सही जी जाती है फ़साना,
जो ये ज़िद्दी रंग भर देते हैं समां में छिटकने के बाद।

रूमानियत

मेरी ज़मीन, आसमान से पूछते तो इल्म होता,
किस कदर इस रूमानियत का हम दम भरते हैं।

चाँद, सूरज, ये तारे, देखो फिर बारात सजाएँ हैं,
सरगोशियों की लड़ी जाने किस तलक रोशन हो चले।

ख़ुद-पस्ती

तुझे अश्क़ों से छलक जाने की इजाज़त कैसे दें,
अभी तो वक़्ती दायरों के दरिये को समेटना बाकी है।

लम्हों और सवालों को यूँ
चश्म-ए-तर पे मुसलसल नहीं करते,
आयत समझ, ख़ुद-पस्ती में भी होके बुलंद,
पलकों से लगा लेते।

प्रीत

प्रीत का स्वाद भला कोई ऐसे ही समझ पाया है,
जो तुम खड़े-खड़े यूँ मुझसे पूछ रहे हो?

ये तो बस खुद चखने वाला ही जान सके है,
कभी इमली की डली-सा मीठा, तो कभी ख़ट्टा।

कारोबार

हम निकले थे तलाश में रुह-ए-सुकून की,
वो उस इक छत की
जहाँ दुनिया की बाज़ारी का इल्म तक
ग़ैर-हक़ीक़ी, ख़याली लगे।

पर शायद बेज़ार, बंजर ख़्वाब सड़कों पे ही
दफ़्न होते हैं।
जहाँ ढूँढा सिर्फ़ जिस्मों का कारोबार पाया।

हाथों पे बिखरी सुर्ख़ी ही बटोर पाये,
जज़्बातों की नमीं निगाहों से छलक
अलैहिदा हो चली।

दुआ

चाहे फूलों की तरह पिरो लो चाहे तारों की तरह,
जो आराध्य को अर्पित किया वो सब तुम्हारा ही हुआ।

पूजारन की माला हो या फिर भक्ता की संवारी चुनर,
तुम्हारे कदमों जो आ बिछी तो तस्लीम हुई मेरी हर दुआ।

यौवन

कोरे काग़ज़-सा रिक्त ये सदियों से भी लम्बा जीवन है,
जिसे किसी चित्रकार की भाँति
तुम उधार के रंगों से भर चले।

अब इस छटकी लालिमा का यौवन तुम्हें पुकार रहा है,
बोलो कौन किराये का अक्स उतारोगे
क्षण-भर ही सही जो आँखों में पले।

बग़ावत

जो तक़रीरों से परे जोड़ा मैंने ज़माने की फ़िज़ूल
पाबंदियों का लेखा-जोख़ा,
तो बड़ी ख़ूबसूरती से मुझे वो नज़ाकत दिखा गए।

कि इससे पहले कि मैं कुछ बोल सकूँ,
वो पैनी आँखों से क़तर कर बग़ावत सिखा गए।

अधिकार

पिंजरे में कैद पंखों की दास्तान
कतरा-कतरा मिलती उम्मीद से जैसे होती है बँधी।

उसी कदर बँधे हैं हम तुझसे
कि ताउम्र बैठे रहे पाने थोड़ा-सा अधिकार।



इम्तिहान

कुछ और देर बैठो इस झिलमिलाते ख़्वाबगाह में,
कि अभी तो बस घूँट-भर ही पिया है तुम्हें।

खोई सेहर का इम्तिहान न लो स्याह वीराने में,
बुझते तारों के मिलन की इक पहर अभी बाकी है।

खामोशियाँ

कुछ बातें मेरी-तुम्हारी अनकही ही रहने दो,
ज़र्ज़र लफ़्ज़ों का ये बोझ आज लाज़मी नहीं।

कभी-कभी खामोशियाँ ही काफ़ी होती हैं,
सुलगती रात के आलिंगन में दिल बहलाने के लिए।

मुराद

धुँआ, धुँआ-सी काया है इस गर्द वीराने की,
जहाँ तुम्हें आख़िरी मुराद की तरह महफ़ूज़ रखा हूँ।

होश किसे है जो पूछूँ क्या वक़्त हो चला है,
बस बीते सायों की लड़ियों में पिरो नज़दीक रखा हूँ।

मुहाजिर

नफा-नुकसान का कच्चा हिसाब क्या बताये ये मुक़ीम,
अब तो अपनी फितरत भी वों, इबादत भी वों।

मुहाजिर पले थे, क्या पता था यूँ तराश दिए जाएंगे,
खुदाया, उन पर आके ऐसे ठहरे, उन्हीं के हो चले।

इरादा

इस कैफ़ियत का इलज़ाम मुझ पे न लगाओ,
मैं तो पहले से लुटा इक अदना-सा शायर हूँ।

बाइज़्ज़त पनाह दे दो मुझे अपने दामन में,
कि भीड़ से भागा, तन्हाई का मामूली इरादा हूँ।

बिस्मिल

इक नज़र में किसी को घायल कर दें,
ये ख़ूबी अजी हम में कहाँ।

हम तो खुद चौखट पे बैठे हैं,
कि खुदा देखें तो बिस्मिल हो चलें।

फ़िरदौस-ए-ज़मीं

दिलफेंक पूछते हैं मुझसे क्या है ऐसा तुझमें
जो मेरे ज़हन के सफ़ों पे बस
नूर को जीता इतिहास लिखा है।
कि गुफ़्तगू में वो क्या हलावत,
शीरनी की क्या वो लज़्ज़त।

आईना हो जो मेरे रूह की सूरत बयान करे
तो दिखलाऊँ,
ये मर्म का मर्म से राब्ता है,
फ़िरदौस-ए-ज़मीं क्यूँ न मुक़म्मल हो।

फ़साना

अँधेरों में तुम उजाले क्यूँ ढूँढ रहे हो इस बेताबी से,
क्या गुम गया है जो सुबह का इन्तज़ार भारी है?

पास पहलू में दो घड़ी गुज़ारो फिर बेशक़ चले जाना,
इस रात का फ़साना हर हक, इख़्तियार से फ़ारिग है।

अँकुर

इस अल्हड़ सावन के यूँ बेबाक़ गरजने पे मत जाओ,
ये मन के अँकुर भादों में भी प्यासे थे
और प्यासा ही रह जाते।

ख़ुश्क होंठों-से तरसते
रिमझिम बरसती बूँदों से मिलन को,
जो तुम इस बदली को छाँट
किसी ग़ुस्सैल झोंके के संग बह जाते।

सादगी

गर्द में उड़ा चले तुम बीती बातों का फल-सफ़ा,
अब हम अफ़सोस भी करें तो किसपे और कैसे।

वो सादगी थी उस वक़्त जो तुम्हें दे चले थे, नादानी नहीं,
बहरहाल सिर्फ़ सिलवटें रह गईं, और रंज में भीगी
मुक़द्दर-ए-तन्हाई।

गुमान

कितनी शामें बीत गईं उनका जिक्र किए,
कि ये रसीदी हिसाब भी अब हल्का लगे।

तसव्वुर में सही, अधूरे गुमान के नशेमन से उठ,
वो सहर जब भी आएगी, आएगी पलकों तले।

अफ़रोज़

किन लफ़्ज़ों में बयान करूँ उसकी मासूम शख़्सियत,
जिसके दामन के तारों से बँधा मैं आज भी ज़िंदा हूँ।

ज़माने ने अपनी रूढ़ि रिवायतों की ज़ंग क्या छेड़ी,
हयात-अफ़रोज़ वो ख़ुद जल के भी मुझे रोशनारा गयी।

मुख्तलिफ़

मुख्तलिफ़ राहों, मुख्तलिफ़ अंजामों को बढ़ते,
कुछ देर सही हम इक साथ तो चलते।

सुना है बड़े नाज़ों से खिलाया है दूर मुकम्मिल सवेरा,
मुबारक आतिश में जलाके मेरी चाहतों का बसेरा।



जाने क्यों

जाने क्यों पूछते हैं लोग
चिराग का शाम से ये कैसा राब्ता...
जब भी आता है तेरा नाम मेरे नाम के साथ,
अंधेरा नूर सा जल जाता है।

जाने क्यों पूछते हैं लोग
इश्क का इबादत से ये कैसा राब्ता...
जब भी उतर आती है तू मुझ में हर शाम के बाद,
ये प्यासा, रूह तक तर जाता है।

जाने क्यों पूछते हैं लोग
अश्क का दारिया-ए-दर्द से ये कैसा राब्ता...
जब भी उन निगाहों से पिघल छूते हैं मुझे
ये सर तस्लीम में झुका जाता है।

कामयाब

तक़दीर के चटके शीशे बटोर लायी हूँ,
कि तारों की बारात सजा सकूँ।

इन झुकी पलकों को उठा के तो देख,
आशियाने में नूर का गुलिस्तां कामयाब है।

तजल्ली

क्यूँ ये हैरत कि रुख़सार है मैहर-ए-मुनव्वर कैसे ...

जो यूँ मोम-सा पिघल मुझमें तू उतर आया,
वादियों में मेहफ़ूज़ गूंज़ती हर दुआ कामिल हो चली।

मेरी सुर्ख जमीन से खिल फ़ाज़िल है तेरा आसमान नीला,
अब तजल्ली भी तू, मरकज़ भी तू।

वज़ूद

अक्सर सफ़ों के बीच ढूँढा करती थी उसे
जो शायद कश्मकश-ए-हयात में कहीं
पीछे छूट गई थी।

मुस्तक़बिल से हुई इक मुलाक़ात से ये इल्म हुआ
कोई खालिस वज़ूद,
कोई शफ़क़त की छत भी बनी है उसके लिए।

मोल

जगमगाते जुगनुओं से पुराना वाबस्ता है शायद तेरा,
जो मेरे आशियाने में नूर तक को
पिघलने की ज़रूरत नहीं।

नज़र-भर तेरे दीदार का ख़ुद पैग़म्बर भी क्या मोल करे,
अब तलक उसकी हर फ़रियाद भी
तुझ से गुज़र मुकम्मल हुई।

उम्र-ए-वफ़ा

पहली दफ़ा मिला था तुमसे
फिर भी ऐसा लगा मानो ख़ुद से
नया तारुफ़ हुआ।
क्या जाने सदियों पुराना रब्त है
जो तुम इतनी दिल-पसंद,
इतनी नज़दीक लगी ...
वो खामोशियाँ,
जिनका क़त्ल करते है लोग बेफ़ज़ूल बातों से रोज़ाना,
भले बदनाम हो जहान भर में,
दरमियान उन अल्फ़ाज़ों की ये ग़ैर-मुतवक़्क़ा कमी
रूह को बेहद मवाफ़िक़ लगी।
तुम अपनायत से मुझपे बिखरती रही,
और मैं जज़ीरे-सा ख़ाली
इस हासिल-ए-'उम्र-ए-वफ़ा
में भीगता गया।

ज़िक्र

कायनात को आदत भले हो तेरे रहम-ओ-करम की,
मुझे तो अब भी यक़ीन नहीं इस बख्शी इनायत का।

इस से पहले की मैं फिर कोई गुस्ताख़ी करूँ,
तू ख़ुद ही तस्दीक़ कर,
मुस्तक़बील को लिखे ख़त में क्या मेरा भी ज़िक्र है ...

चाँद

जागती आँखों से कोई सपना देख रही थी,
कि चिलमन के परे इक आहट-सी हुई।

उठ के देखती रैन इस से पहले ही चाँद
आसमान से सरक मेरी हथेली पे आ गिरा।

शर्मिंदा

मुआशरे के बाज़ारी उजालों के पार भी है
इक मक़सूद दुनिया,
जहाँ सजायी हैं बड़े एहतराम से हमने
ताउम्र बटोरी ख्वाहिशें।

जो इधर का रुख करें तो रिवायती चिराग़-ए-लौ को
ज़रा धीमा कीजिएगा,
कि शफ़क़ खिलाये ये नगीने आफ़ताब को
शर्मिंदा कर चलें हैं।

गुज़ारिश

गुज़ारिश तो थी कि आप धड़कनों से गुफ़्तगू करते,
मगर सहमी ज़ुबान से ये कहते भी तो कैसे।

वो इक नज़र जो उठी काफ़ी थी हमें ढेर करने,
आखिर पलकों की इनायत भी दुआ से कम तो नहीं।

मुखातिब

सौ परदों में भी अगर तुम छुप जाओ कहीं,
ये साँवरे मन की प्यासी आँखें तुम्हें ढूंढ ही लेंगीं।

जिसकी ख़ुशबू से महकता है ये गुल-ए-गुलशन,
मेरे मालिक मुझसे मुखातिब न भी हो तो सींच देंगीं।

लिबास

ढलती रात में समेटना मेरे ख़्वाबों का लिबास,
कहीं जलते ज़माने की नज़र न लग जाए।

कई अरसे राह तकी है इन नैनों के अंगारों ने,
चाँदनी-सी शीतल शर्म थोड़ी और देर तो इन्हें बहकाए।

तल्खियाँ

तुम मीठे पानी के चश्मे से मेरे रोम-रोम से क्या रिसे,
चुभती प्यास का दायरा सिकुड़ इक बिंदु में सिमट गया।

जो कुछ तल्खियाँ बाक़ी थीं शब्-ऐ-फ़िराक़ की ज़ेहन में दबीं,
वो फ़ज़ल की बारिश में धुल आसमानी नगीना बन चलीं।

ताल्लुक़

ताल्लुक़ की तर्क नाज़ुकियाँ कह लो,
चाहे दयार-ए-दिल की बारीक़ रात।

उनके न आने पे हमें रोना भी न आया,
ख़ुश्क अश्क़ों संग पी चले थे सारा इंतज़ार।

हिफ़ाज़त

मुझ को जब अपनी हर याद से ही महरूम कर चले,
तो इस बंद संदूक, चाभी का अब मैं क्या करूँगी?

इन्हें भी संग ले जाओ अपनी उसी मुकमल दुनिया में,
पास हिफ़ाज़त से रखने को अब कुछ भी बाक़ी नहीं।

अनछुई

इन रिक्त आँखों में कुछ महके ख़्वाब ही सजा लेने दो,
समझ लूँगी वही हमारे मिलन की
नूरानी अनछुई सेज़ है।

ये वक़्त जो इस बन्द मुट्ठी में कुछ और देर सम्भाल रखी हूँ,
फिर खुद ही पिघल जाएगा
तेरी रेगिस्तानी यादों के तले।

दर्द

दर्द की गिरह इतनी ज़ालिम होगी
ये किसे था पता,
होता, तो हम उसके आने से पहले ही चल देते उस ओर।

कि वो क्या करतीं इंतज़ार हमारा पलके झुकाए,
हम नज़र-भर देख उन्हें
रोज़-ए-अज़ल ही हो जाते गिरफ़्तार।

हाल-ए-तबाह

ज़ुबान से चाहे न बोलो तुम इक लफ़्ज़ भी,
झुकी पलकें करती हैं इज़हार मेरे हाल-ए-तबाह का।

कि मैं भी शरीक़ हूँ उन ख़ामोश रातों की नाराज़गी में,
जिसे काटा है तुमने पहरों करते सबाह का इंतज़ार।

गहराई

समंदर के शोर से ज़्यादा नमकीन है
मेरे भीतर का शोर।

उसमें आँसुओं की तपिश है,
अंधेरी अधूरी रातों का ख़ालीपन है,
स्याह लिखाई का डूबता हौसला है,
रक्त से लाल लम्हों की समाई है।

वो समंदर तो फिर भी कभी ख़ामोश हो जाता है,
ये अथाह गहराई,
जिसकी कभी मैं तो कभी वो ख़ुद बन्दनी-सी प्रतीत होते हैं,
चुपचाप होके भी मुझे भेद जाती है।

सुकून-ए-ठहराव

तुम्हें तय कर किसी और मंज़िल को बढ़ जाऊँ
ये मुमकिन नहीं।

सुकून-ए-ठहराव हो मेरे, मौसम नहीं
कि गुज़र जाओ।

इंक़िलाबी

इत्तिफ़ाक़ी कारवाँ वाले
रौशनान-ए-फ़लक की तमन्ना क्या करूँ,
जब आखिरी दाव खेल गया
तेरे नूर-ऊस-सबाह काले तिल पर।

इस तिरछे-फ़ीके दिल की अब
चाशनी में घुली मुख़्तसर रात से
बात न बनेगी,
रूबरू तुझसे दाइमी फ़तेह मयस्सर हो,
इतनी इल्तिजा है,
हाय अदना इश्क़ इंक़िलाबी हो चला।

शशि

शशि को इजाज़त दी थी कभी दबे पाओं भीतर आने की,
देखो आज कैसे इठला रहा है इस ख़्वाबगाह में बैठा।

तुम भी अब माँग ही लो यहाँ का पता उसी हक़ से,
कि बेचैन हैं तीनों ही जुगनुओं-से रोशन
इस सेज़ को सजाने।

आशिक़

तेरी निगाहों ने जो खामोश लूटा
तो जन्नत-ए-खुमार की गिरफ़्त में
ना मैं डूबा ना सम्भला ...

बदहवास यूँ जो सोचा करूँ शिकायत
तेरी खुदा से,
तो वोह ज़ालिम भी उनका ही
आशिक़ निकला।

यक़ीन

सुना है उसकी आवाज़ भर ही काफ़ी है ढेर करने को,
फ़िर भी आया हूँ इस दर पे इक झलक के लिए।

नुमाइंदे देखे हैं बहुत झूठी सलाहियतों के,
अब बातें नहीं, यक़ीन आए आँखों को तो राहत मिले।



बसेरा

दुनिया के चलन से कहीं दूर सजाया था अपना बसेरा,
इस ख्याल में कि तुम कभी तो इस तरफ आओगे।

इत्तिफ़ाक़ समझूँ इसे या कोई इनायत जन्नत-ए-बक्श,
कि ये कदम जब-जब उठे, बाअदब यहीं का रुख़ किए।

हक़

पनाहों में सँभाले तुम्हें कुछ शब गुज़ारी हैं हमने,
उनका सिला आज माँगती हैं ये नज़रें।

ज़वाबदेही का वक़्त बहुत पीछे छूट गया,
अब तुमसे सिर्फ़ अपने हक़ के हिस्से की उम्मीद है।

उसी को पाने आए हैं तेरी दहलीज़ पे,
ठुकराए जाने की अब कोई गुंजाइश नहीं।

आँसूं

सागर की गहराई को मापना कोई हमसे सीखे,
कितने अरसे बिताए हैं इक-इक तह को कुरेदते।

अंजुलि-भर आँसूं जो कभी बटोर सके तो जानोगे,
वक़्त की फिसलन भी उस ज़मीन को छू नहीं सकती।

पैमाइश

इसे इत्तिफ़ाक़ कहूँ या वाक़िआतों की इक लम्बी सदी,
तुम्हारे होके भी न होने की तकलीफ न रही।

नामुमकिनियात की फ़िलहाल पैमाइश क्या करते हम,
जब कोई शिकायत, कोई आज़माइश न रही।

मुर्शिद

जब भी पलट के देखा है मैंने
उस अधूरी शाम के दायरे से निकल,
पाया तुम्हें वहीं,
उन्हीं बीते अल्फ़ाज़ों के पीछे चुपके से झाँकते।

एक कतरा मीठी नींद का जो तुमसे मिला था कभी,
मेरे मुर्शिद,
उसके फिर हासिल होने की कसक
आज भी रखती है ज़िंदा मुझे।

आज़ादी

जिन दायरों ने कभी की थी मेरी हालत बयान,
उनमें सिमटा मैं आज तुम्हें ढूँढना चाहता हूँ।

अगन की सरफ़रोशी में घिरा, खुद को भूला, भटका,
तुम संग आज़ादी में भीग फिर जीना चाहता हूँ।

बारात

फैसलों की अब मत कर बात, उनमें छुपी सज़ा होगी।
फासले जो तय कर ले रात, मुमकिन मेरी रज़ा होगी।

मुकम्मल बीते ख्वाब सी, फिर आरज़ू की फिज़ा होगी।
नूर-ए-चमन इस सांवल बारात में चिलमनी हिज़ा होगी।

जीत

हर मुबारक़ जीत हो तेरी
इस ख़याल को निगाहों में भरे
बुलंदियों को फ़लक की सीमाओं के पार निकलते
देखते आये हैं।

कि हो ज़र्रा-ज़र्रा इज़ाफ़ा ओहदे में कभी
तो शख़्सियत में कभी,
ज़ुबान पे बिस्मिल्लाह को किए मुक़ीम,
हम हर आने वाली सहर यही सोचते आये हैं।

चर्चा

कल चौंदवी की रात थी,
रोशनदान से झाँक चाँद ने इक बार फ़िर
बड़ी नर्मी से पुकारा।

तू हुई न इसपे भी जब निगाहों में गिरफ़्तार,
शब भर चलता रहा अरमान-ए-महफ़िल में
चर्चा तेरा।

दीदार

सबने कहा मुझसे तेरी आस, तेरी अब राह न तकूँ,
पर मैं दीवाना क्या सुनता, बाग़ी जो भला।

मयखानों, महफ़िलों से दूर आके भी न हुआ दीदार,
जाम लबरेज़ ही रहा, इंतज़ार ख़ाली हो चला।

अभिलाषी

जब भी पलकों को सहलाया तो देखा है यही इक ख़्वाब,
कि तुम पायल-सी झनकती आ उतरी हो
मन के आंगन में।

कभी उर्वशी की कशिश से,
तो कभी तिलोतम्मा की झलक से
हर दर्पण को लज्जा, भिगो जाती हो
अभिलाषी सावन में।

क़ुर्बानी

ख़ता तकदीर की कहें या उस वक़्त नासाज़ की,
तेरे वजूद की शनाख़्त तक ज़ेहन से जुदा हो चली।
यादों के पहरे से अलैहिदा, तेरे फज़ल से महरूम
भटकते रहे बेतरतीब खींचें तयशुदा गलियारों में अक़्सर।

बहर-सूरत इस ख्याल से दिल बेहला लेते हैं अब
कि हुक्म-ए-आख़िरी था सो मांग ली अनमोल क़ुर्बानी।

मुंतज़िर

रोक के अब इस गुज़रते लम्हे मुझे क्या पाओगे,
दबी आहों को न समेटो, लबों तक इन्हें आने दो।

ले सब से विदा दो ग़ज़ ज़मीन को निकल पड़ा हूँ,
मुंतज़िर वही है अब मेरी, छोड़ो हाथ मुझे जाने दो।

अर्धांगिनी

अर्धांगिनी, बस एक शब्द में सिमट आया है
नारी का अस्तित्व,
अब तो रुक जाओ,
और कहाँ तक फैलाओगे अपने क्षितिज को ...

जो मुझमें शुरू होके तुमपे ख़त्म हो आये,
ऐसी आत्म-त्याग की दर्पण-छवि का चित्रण
क्या ही खींच पाओगे ...

अमन

शहर की ख़ामोशियों में घुल
तेरे होने का निशान ढूँढा करते हैं।
अमन की सरगोशियों से बंधे
तुझमें मिलने का दरिया ढूँढा करते हैं।

हो बेपरवाह उड़ानों से फ़लक का सीना चीरती
सफ़ेद परिंदों की इक़बाल कहानी,
या अछूते लबों पे आके ठहरी
इस इंतज़ार में, आहिस्ता, रवानी।
साँसों से साँसों के मरासिम की
पहचान तू ही।

उजले आफ़ताब में सिमटती
आख़िरी नूर की मिल्कियत तू ही।

आने वाली सुबह का आग़ाज़
कुछ ऐसा हो अन्दाज़-ए-बयान,
कि हर शब हम सुकून-ए-तसलीम का
सामान ढूँढा करते हैं।

फ़िज़ा में पिघली हवा का रुख़ मोड़
तुझे छू के गुज़र जाने वाली
वो कामिल दुआ ढूँढा करते हैं।



III

जिंदा हूं मैं अभी ...

तुझसे क्या शिक़ायत करूं
अब इस पल
क्यूं देर की तूने यूं आने में।
परिंदों के साथ काटे हैं
ये साल दर साल
न ज़ाया कर अब इसे
किसी बहाने में।

जो लफ़्ज़ों में समाना पड़े
वो मत कर बयान
आंखों में ठहरी मासूमियत
अब नहीं।
फलक पे सजा दे
अपनी ये अनकही
कि बिसरे वक़्त की मीनारें
धंसी हैं वहीं।

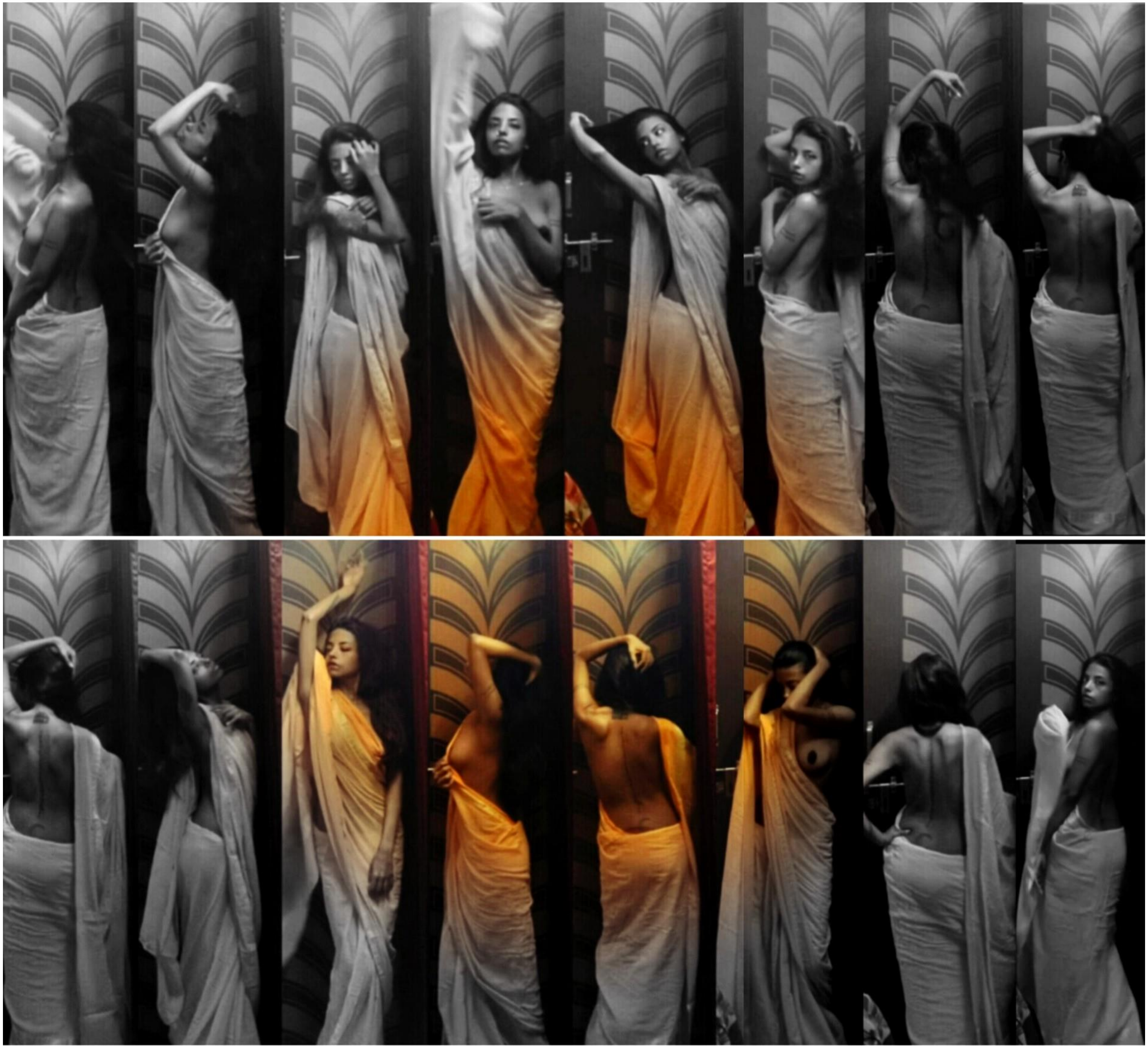
उनका दामन गर खाली हो
तो माज़रत से भर दे
मेरे तो ख्वाब तक हैं
पेहरे-ए-नशीन।
शायद उस चमक से
कुछ और निखर जाएं,
थोड़ा गुमान ही हो मुकम्मल
मेरे हसीन।

भूल जा,
यूं क्या खोजना उन कटी पतंगों को
जिनकी बेकसी में दफ़न
ख्वाहिशें हैं मेरी?
दर्मियान गर कुछ था भी
तो अब ना रहा
माज़ी के भंवर संग डूब गईं
उम्मीदें सब तेरी।

इन लपटों में घिरी,
यूं लहरों में फंसी
जो उठी
तो अब फिर पीछे न
चल सकूंगी कभी।
क्यूं आया, न आया,
बेमायने सवाल हैं सब
बेहरहाल उम्र गुज़री,
पर जिंदा हूं मैं अभी।







अक़्स

